5988

झारखण्ड की विरासत एवं विकास



डॉ सत्यनारायण मुण्डा

झारखण्ड की विरासत

एवं

विकास

सप्रेम भेंट:
पुस्तकालय के लिए
भारतीय भाषा संस्थान
(सी आई आई एल)
हुणसुर मार्ग, मानसगंगोत्री,
मैसूरु - 570006, कर्नाटक

17/01/2019
प्रो॰ सत्यनारायण मुण्डा
कुलपति
DSPMU, Ranchi.

डॉ॰ सत्यनारायण मुण्डा

© सत्यनारायण मुण्डा

प्रकाशक :

साइल-राकाब पुथि सेंटर

(पुस्तक वितरक एवं विक्रेता)

विराटी आबासन

एम.आई.जी. (यू.) 11/12

निमटा, कलकत्ता-700 049

मुद्रक :

कैलाश पेपर कन्वर्शन (प्रा.) लिमिटेड

2, भरतपुरी, पुरुलिया रोड

राँची-834 001

दूरभाष : 315251

प्रथम संस्करण : 2000

मूल्य : 35.00 रु.

शाखा पुस्तक वितरण एवं विक्रय स्थल

मसकल मुण्डा

सरना टोली, हातमा, राँची - 834 008

(बिहार)

दूरभाष : 306663

मधुबन टेलिकॉम कॉलोनी

ब्लॉक-7, प्लॉट नं. 2

मयूरभंज (उड़ीसा) - 757 001

विषय-सूची

आभार शब्द

डॉ. रामदयाल मुण्डा के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे झारखण्ड के पर्व-त्योहारों, दस्तूरों से सम्बन्धित मेरे विचारों को किताब के रूप में संरक्षित करने के लिए प्रोत्साहित किया।

मइनन भइयाराम मुंडा, राजेन्द्र सिंह मुण्डा, भुवन मोहन मुण्डा, राकेश कुमार मुण्डा, पाण्डा बोदरा, अर्जुन टूटी, पी. सी. सिंह के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मुझे झारखण्ड की पहचान, विशेषताओं एवं पीड़ा को किताबों के माध्यम से प्रचार-प्रसारित करने पर बल दिया।

प्रभात खबर, राँची, वन्य जाति नई दिल्ली, सरना फूल, राँची तथा अन्य सभी समाचार पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं का आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरे विचारों को प्रकाशित किया है। मैं उन सभी बुद्धिजीवी साथियों का आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरे विचारों को प्रकाशित किया है। मैं उन सभी बुद्धिजीवी साथियों का आभारी हूँ, जिनके सम्पर्क में रहकर मेरे विचारों को बल मिला है।

अन्त में मैं अपने परिवार के सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे घर के छोटे-मोटे कामों से मुक्त रखकर पुस्तक को अंतिम रूप देने में सहयोग किया।

भूमिका

झारखण्ड के पर्व-त्योहार, नेग-दस्तूर, रीति-रिवाजों में कई वैज्ञानिक, सामाजिक तथ्य छिपे हैं। प्राय: ये वैज्ञानिक, सामाजिक रहस्य अन्धविश्वास के नाम से बचे हुए हैं। आज जमीन से जुड़े लोगों द्वारा संस्कारों के क्रियान्वयन पर उन्हें फल की प्राप्ति होती है। परन्तु वे पर्व-त्योहारों से जन्में कार्य-कारण के संबंध एवं उपयोग करने की मात्रा, विधि से पूर्ण परिचित नहीं हैं। फलत: उन्हें वांछित लाभ प्राप्त नहीं होता है।

अत: आज झारखण्ड क्षेत्र के नेग-दस्तूरों, पर्व-त्योहारों की विशेषताओं का प्रचार-प्रसार स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यावश्यक है। ताकि लोग इनके क्रियात्मक, कार्यात्मक, उपयोगी पहलुओं को जानें, पहचानें एवं देश का विकास हो। समय के बीतने के साथ ये धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं।

अत: मैंने संक्षेप में इन पर्व-त्योहारों, रिवाजों की विशेषताओं को बताने का प्रयास किया है – इनमें बा, बुरू, सोहराई, काराम (करमा या करम), रोग चटु गिडि (रोग हार), मद् पुडु: इली इत्यादि का महत्वपूर्ण स्थान है। राजनीतिज्ञों के प्रति भी मुझे नाराजगी है, चूंकि उन्होंने झारखण्ड की सोच को समझने का प्रयास नहीं किया है, जिससे न केवल झारखण्ड समुदाय का अस्तित्व खतरे में है। बल्कि हमने प्राचीनतम वैज्ञानिक तथ्यों को खोया है। आज धीरे-धीरे अपनी मातृभाषा भूलने के कारण भी मिट्टी, लत्तर, चट्टान, घास-पात, वृक्ष की जड़ों, छालों की विशेषताओं से अपरिचित हो रहे हैं जिन नामों में रोग उपचार के तथ्य छिपे हैं। इसके लिए व्यवस्था, प्रबन्धन, प्रशासन और राज्य दोष मुक्त नहीं हो सकते हैं।

निस्सन्देह विकास के लिए उपलब्ध स्थानीय संसाधनों को लेकर आगे बढ़ने की जरूरत है।

डॉ. सत्यनारायण मुण्डा
रीडर एवं विभागाध्यक्ष,
मानव विज्ञान विभाग,
राँची कॉलेज, राँची।

1. बिरसा का व्यक्तित्व और जीवन दर्शन

छोटानागपुर के अमर स्वाधीनता सेनानी बिरसा मुण्डा का जन्म 15 नवम्बर 1874 ई. (बिरसा मुण्डा एवं उनका आन्दोलन : डा. कुमार सुरेश सिंह) को हुआ। बिरसा मुण्डा का गाँव उलीहातु था, परन्तु चालकाद में पले बढ़े।


शहीद बिरसा मुण्डा की मूर्त्ति

वे मात्र एक स्वाधीनता सेनानी ही नहीं थे बल्कि उनका जीवन समाज के लिए प्रेरणा स्रोत भी था और उनका एक जीवन दर्शन भी था जो अत्यन्त ही व्यवहारिक था।

बिरसा द्वारा सीधी लकड़ियों को जलावन के काम में न लाना तथा सीधी छोटी डालियों एवं शाखाओं को दतुवन के रूप में उपयोग न करना, जंगल बचाने की ओर इंगित करता है। लकड़ी के महत्व की ओर इंगित करना है। जैसा कि आदिवासी बच्चों, बूढ़ों एवं जवानों तथा जंगल के समीप रहने वाले ग्रामीणों में देखा जाता है। वे पारम्परिक ढंग से प्राय: सूखी लकड़ियों को, टेढ़ी लकड़ियों को ही जलावन के रूप में उपयोग में लाते हैं तथा सीधी छोटी डालियों को दतुवन के रूप में तोड़ा नहीं जाता है, बल्कि सोच-समझ कर उसे बचाया जाता है।

सामाजिक वानिकी

बिरसा गाय-बैल चराने जाते हुए, शिकार करने जाते हुए स्वभावत: इमली, आम एवं कटहल के बीजों को रोपा करते थे। उदाहरणत: आदिवासी गाँवों एवं अन्य गाँवों में प्राय: इमली, आम, बरगद, पीपल, कटहल के बड़े-बड़े पेड़ हैं तथा प्रत्येक पेड़ के संबंध में कहा जाता है कि अमुक पेड़ को मेरे बड़े दादा ने रोपा है, मंझले दादा ने रोपा है, छोटा दादा ने शिकार खेलते जाते हुए रोपा था। जिससे पता चलता है कि पूर्वज जंगल प्रेमी थे, उन्हें वृक्ष रोपण के कार्य में आनन्द आता था। अत: बिरसा में, पूर्वजों में सामाजिक वानिकी से प्रेम था। वे दूरदर्शी थे, पूर्ण शिक्षित थे, जो

अनुकरणीय हैं, प्रशंसनीय हैं। परन्तु आज कृत्रिमता के संपर्क में आकर पारम्परिक ढंग से चली आ रही प्रेरणा के स्रोतों को लोग भूल रहे हैं और उत्तरादायी विहीन बनकर कामचोर बनकर, अपनत्व के अभाव में लोग सड़क के किनारे के वृक्षों को बचा पाने में भी असमर्थ हैं जो आदि संस्कृति की ओर उपेक्षा करना जघन्य अपराध है। चूंकि आज किसी भी देश में पूरे क्षेत्रफल के 33 प्रतिशत हिस्से में जंगल अत्यावश्यक है अन्यथा वायुमंडल दूषित होने का खतरा है।

खटंगा में बिरसा को ईसाई प्रचारकों के साथ सम्पर्क हुआ लेकिन वे प्रायः मुंडाओं की, आदिवासियों की पुरानी व्यवस्था की आलोचना करते रहते थे। फलतः बिरसा को अच्छा न लगा एवं प्रचारक के साथ उसका संबंध विच्छेद हुआ। यह स्वभाविक है। चूंकि मुंडाओं की आदिवासियों की एवं प्राचीनतम धार्मिक व्यवस्था में स्वभाविकता की झलक है, ऊँच-नीच, जात-पात एवं धर्म विभेद से परे है। आडम्बर रहित है। आदिवासियों का धर्म, प्राचीनतम धर्म, प्रकृति प्रेमी है, प्रकृति के निकट है। यही कारण है कि सरना, बुरू सरना, देसाउली, चंडी, उतर, ऊख ससंग में बड़े-बड़े पेड़ों के झुरमुट के बीच तथा पहाड़ों, नदी-नालों के नाम से पूजा की जाती है। जिसके लिए निश्चित, परिभाषित पूजा-सामग्रियों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु आज लोग अपनी मौलिकताओं को भूलकर कृत्रिमता की ओर आकर्षित हो रहे हैं, जो हमारे लिए अभिशाप है, कलंक है, अमानवीय है।

गलती स्वीकार करने की प्रवृत्ति

भेड़ बकरियों के खेत में चरने के कारण खेत के मालिक द्वारा बिरसा को पीटा जाना महत्वपूर्ण मुद्दा है। चूंकि उन्होंने चुपचाप अपनी गलती स्वीकार की। इससे साफ पता चलता है कि बिरसा आदर्शवादी था, न्यायी था, समानता की भावना पर उन्हें विश्वास था, अपने-पराया का भेदभाव न था गलती छिपाने की आदत नहीं थी। बल्कि गलती सुधारने की इच्छा थी। गाँव के पुनर्निमाण के लिए, समाज के पुनर्निमाण के लिए, देश के पुनर्निमाण के लिए यह सराहनीय है, अनुकरणीय है।

कठोर परिश्रमी

बिरसा कठोर परिश्रमी थे, आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील थे। यही कठोर कारण है कि सन् 1886 ई. में चाईबासा स्कूल में नामांकन के समय, पैदल चलते हुए पैर में घाव होने के बावजूद उनके पाँव नहीं लड़खड़ाए। निसन्देह वह निष्ठावान और

लगनशील थे। अन्ततः प्राथमिक स्कूल के शिक्षक ने खुश होकर, नियम का उल्लंघन करते हुए, उनका नामांकन किया। अतः बिरसा, आज के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं।

चाईबासा में डॉ. नोट्रोट द्वारा उपदेश देने के दौरान यह कहने पर उन्हें दुःख हुआ कि ईसाई बने रहने पर ही लोगों की छीनी हुई जमीन वापस करा देंगे। सन् 1886-87 ई. में इन्हें गहरा धक्का तब लगा जब सरदारों एवं मिशनरियों का संबंध विच्छेद हुआ तथा सरदारों को धोखेबाज कहा जाने लगा।

निःसन्देह बिरसा महान व्यक्ति थे एवं स्वतंत्र विचार के थे एवं सशर्त्त मदद करने वालों के खिलाफ थे। चूंकि व्यक्तित्व के विकास के लिए सशर्त्त मदद करना तन-मन के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इससे व्यक्ति कुंठित हो जाता है। स्वतंत्र ढंग से, स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ने में कठिनाई होती है। व्यक्तित्व का सही रूप, समाज के सामने न आना, सम्पूर्ण मानव समुदाय के लिए, आदर्श समाज के लिए अहितकर है। स्वभावतः आदिवासियों में, प्राचीनतम समाजों में, आदर्श शिक्षित समाजों में निःस्वार्थ भाव से मदद करने की परिपाटी है।

विभिन्न धर्मों को आदर करने की प्रवृत्ति

सन् 1891 ई. के आस-पास बिरसा का सम्पर्क आनन्द पांड् (जनजातीय गाँव में कपड़ा बुनने वाले, स्वाँसी समुदाय का व्यक्ति) से हुआ। बिरसा को उससे रामायण-महाभारत के बारे में जानकारी मिली। वह जानना चाहते थे कि रामायण-महाभारत की कथाओं में जमीन से जुड़े मूलवासियों के साथ छल तो नहीं हुआ? अन्ततः बिरसा सरना (प्रीमीटीभिज्म/आदि धर्म) से प्रभावित हुए। चूँकि प्रीमीटीभिज्म (Primitiveism) से मानव का विकास हुआ है। उन्हें लगा कि समस्याओं का हल प्रीमीटीभिज्म का सोच ही, सर्वोत्तम है।

शोषण के खिलाफ आवाज बुलन्द करने की प्रवृत्ति

बिरसा बचपन के छात्र जीवन से ही शोषकों के खिलाफ थे, अन्यायियों के खिलाफ थे। अतएव उन्होंने शोषण के विरूद्ध लड़ रहे सरदारों का साथ देते हुए अंग्रेजों के खिलाफ स्वदेशी दलालों के खिलाफ आवाज बुलन्द करनी पड़ी थी। उनके अनुसार वे सभी दुश्मन हैं, जो शोषक हैं, अन्यायी हैं, अत्याचारी हैं एवं जो उन्हें मदद करते हैं। क्यों न वे अपने समाज के ही हों? जाति के ही हों, गाँव के ही हों। इन्हीं कारणों से बिरसा को स्कूल से निकाला गया पर वह विचलित न हुआ

बल्कि उसे सोचने-समझने का मौका मिला, वास्तविकता से परिचित हुआ।

व्यावहारिक शिक्षा पर विश्वास

18-19 वर्ष की आयु में (सन् 1891 ई.) बरसात से क्षतिग्रस्त एक तालाब को मरम्मत कर देना, कठोर परिश्रमी एवं लगनशीलता का परिचायक है तथा बिरसा के बहुआयामी व्यक्तित्व की झलक दिलाता है। अतः वे व्यावहारिक शिक्षा पर विश्वास करते थे। पढ़ लिख कर, अपंग बनकर, नौकरी की तलाश करने के सख्त विरोधी थे। वे स्वतंत्र ढंग से रोजगार के उपायों में संलग्न होने पर बल देते थे।

दृढ़ निश्चयी एवं आशावादी

बिरसा दृढ़ निश्चयी थे, आशावादी थे एवं सुधारवादी नीतियों पर विश्वास करते थे। यही कारण है कि वे दिकुओं (दलाली करने वाले, झूठ बोलने वाले, चमचागिरी करने वाले, ठगने-फुसलाने वाले) के बीच जाकर उपदेश देने का संकल्प ले चुके थे ताकि सम्पूर्ण समाज का सही विकास हो एवं अंग्रेजों को भगाकर स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखा जा सके। अन्ततः 9 जून 1900 को उनका देहावसान हुआ।

कुशल नेता एवं परिपक्व राजनीतिज्ञ

वे कुशल नेता एवं परिपक्व राजनीतिज्ञ थे। यही कारण है कि उन्होंने रणनीति तैयार की, जनसंपर्क अभियान को तेज किया। अतः बिरसा आज की स्थिति में भी आदर्श के प्रतीक हैं और प्रेरणा के स्रोत हैं।

2. बा (सरहुल) पर्व : एक सांस्कृतिक धरोहर

सरहुल झारखंड की जनजातियों का प्रमुख पर्व है। इसके अतिरिक्त उड़ीसा, बंगाल, मध्यप्रदेश, असम इत्यादि की जनजातियाँ इसे धूमधाम से मनाती हैं। इस पर्व का मूल उद्देश्य फूलों से लदे वन-वृक्षों (सरना, जाहेर, चंडी) की पूजा करना, जनसमुदाय को नयी फूल-पत्तियों की सेवा एवं स्वागत के लिए आकर्षित करना, प्राकृतिक संतुलन एवं सृष्टि को बनाये रखने के लिए वृक्षारोपण की अवधारणा को पुनर्जीवित करने हेतु पूर्वजों को स्मरण करना एवं आगे बढ़ना है। मुंडा, हो, बिरहोर, महली, लोहरा, बिरजिया जनजातियाँ इसे 'बा' पर्व, संताल जनजातियाँ बाहा तथा उराँव जनजातियाँ इसे खद्दी कहती हैं। जनजातियाँ इस पर्व को सिङ बोंगा (सर्वशक्तिमान ईश्वर) के आशीर्वाद से, प्रयास से, लुटकुम हाड़ाम, लुटकुम बुडी / लुकू हाड़ाम - लुकू बुडी (लुकू औरत-लुकू मर्द) का सरहुल फूल-पत्तियों के सहयोग से मिलन (लेपेल-उपुरूम) एवं ईश्वर की धरती से विवाह (खेखेल बेंज्जा) से संबंधित मानती हैं। अतः जनजातियाँ, सरहुल के आगमन के साथ ही थिरक उठती हैं। आनन्द-विभोर हो उठती हैं। भाई-बहन, माता-पिता, सगे-संबंधी तथा पड़ोसी गाजे-बाजे के साथ, हर्ष-उल्लास के साथ अखाड़ा में नाचते-गाते हैं। निस्संदेह 'सरहुल' जनजीवन का प्रतीक है, प्रेरणादायक है, वन संरक्षण का द्योतक है।

पाहान या नायक (पुजारी, जिसे सामूहिक रूप से गाँव में पूजा करने की जिम्मेवारी सौंपी गयी है), सरहुल के सात दिन पूर्व, कोटवार (सूचनादाता) के द्वारा गाँव के लोगों को सूचित करता है कि सरहुल के दिन (चैत शुक्ल पक्ष के तृतीय या पाँचवें दिन या फागुन शुक्ल पक्ष की निश्चित तिथियों में) वे हल नहीं जोतें, जमीन नहीं कोड़ें, जंगल नहीं काटें, संयम से रहें तथा अनियंत्रित रूप से हड़िया नहीं पियें। एक दोना हड़िया, प्रसाद के रूप में लेने की पवित्रता को बनाये रखें। वे पुनः भावी पीढ़ियों को उपदेश देते हुए कहते हैं - एक दोना हड़िया की पवित्रता को बनाये रखें। इसे हाट-बाजार, मेलों में न बेचें, पूर्वजों की इज्जत को बनाये रखें।

सरहुल के दो दिन पूर्व से ही महिलाएँ घर-आंगन को साफ करती हैं, लीपती-पोतती हैं, संवारती-सजाती हैं, जबकि पुरुष (हाई-काड़कोम) मछली और

कोंकड़ा) पकड़ने के लिए नदी-नाला / झरने की ओर निकल पड़ते हैं। वहाँ से लौटने के बाद केंकड़ा एवं मछली की पूजा करते हैं, तत्पश्चात भोजन ग्रहण करते हैं। सरहुल के एक दिन पूर्व उरद दाल पकायी जाती है तथा उसकी पूजा की जाती है। उसी दिन शाम को पाहान, पानी भोरा (सहायक) के साथ दो या तीन मिट्टी के कलशों में पानी भर कर सरना स्थल-जाहेर की ओर रवाना होता है। सिङ बोंगा एवं अन्य देवी देवताओं को निमंत्रित करता है तथा पानी से भरे कलशों को धागे से बाँध कर उनके स्मरण में मग्न हो जाता है।

सरहुल के दिन पाहान उपवास रखकर गाँव के बुजूर्ग व युवकों के साथ गाजे-बाजे के साथ सरना स्थल की ओर रवाना होते हैं। गाँव के प्रत्येक परिवार के सदस्य अपने सामर्थ्य के अनुसार अरवा चावल, सिंदूर, धूप, मुर्गी, थापना इली (पूजा करने की हड़िया) इत्यादि ले जाते हैं। पहुँचने पर सखुए के फूलों से लदी डाली को पूजा स्थल पर गाड़ा जाता है, तीन-तीन सिंदूर के टीके लगाये जाते हैं। धूप जलायी जाती है। अरवा चावल छींटे जाते हैं। किसी न किसी रूप से उपस्थित सभी सदस्य पूजा में शामिल रहते हैं। आग्नेय भाषी मुंडारी में कहते हैं :-



बा के अवसर पर पूजा में शामिल पाहान एवं गाँव के लोग

मर सिरमा रेन सिङ बोंगा	ओ सर्वश्रेष्ठ देवता
तिसीं दो मिद ते दुब कोः पे,	आज आप सभी एक साथ बैठें,
जारू कोः पे	विचार विमर्श करें
तिसीं दोले बा तन	आज तो हम सरहुल पर्व मना रहे हैं

बा को: पे	आप भी फूलों से सुसज्जित हों
अपे ले अर्जी तन	आपसे हमारी बिनती है
दारू सिंग को पोवाकन-पोसाकान तइन क	पेड़-पौधे उगे फले-फूलें
ए लुती को होबाकन तइन क	लाह की खेती अच्छी हो
तारोब-तिरील, सोसो-कुदा	केंवद-चार, भेलवा जामुन इत्यादि
बुगि लेक तइन क	*फल अच्छे* एवं अधिक हों
अपे गेले जोअर तन, अपेगेले अर्जी तन	आप ही से हमारी प्रार्थना है, आप ही से हमारा निवेदन है
होन गांडा को बुगिअ कन ले तइन क	हम बच्चे, बूढ़े स्वस्थ रहें
बुगि लेक पोवाकान पोसाकन ले तइन क	नये शिशु स्वस्थ्य रहें, यही हमारी कामना है
रोग-दुकू हर गिड़ि पे, ठपा गिड़ि पे	विभिन्न महामारियों, बीमारियों को दूर करें
इन गेले अर्जी तन	यही हमारी कामना है, बिनती है
ने कालम् द: बुगि लेक् गमाए क	इस वर्ष वर्षा अच्छी हो
इन गेले गवारि तन	यही हमारी बिनती है, इत्यादि....

कहते हुए बारी- बारी से रांगीया, हड़े: मुर्गियों की बलि चढ़ाई जाती है।



जामुन चुनते एवं खाते नौजवान

तत्पश्चात सरना / जाहेर देवता को वे सभी नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं।

पूजा के बाद, तीन कलशों के पानी को पाहान गाँव के लोगों की उपस्थिति में देखते हैं। यदि पानी कलश के मुँह से गिरने लगता

है, तो समझा जाता है कि वर्षा अच्छी होगी। यदि पानी कम हो, तो समझा जाता है कि वर्षा कम होगी। ऐसी स्थिति में पाहान, पूर्वजों की तरह युवकों को ज्यादा से ज्यादा वृक्षारोपण के लिए प्रेरित करते हैं। चूंकि किसी भी विकसित देश के लिए पूरे क्षेत्रफल के कम से कम 1/3 हिस्से में जंगल रहना अत्यावश्यक है।

पूजा की समाप्ति के साथ ही मुर्गी एवं चावल की खिचड़ी पकने लगती है। सभी सदस्य प्रसाद के रूप में इसे ग्रहण करते हैं, तत्पश्चात गाँव की ओर पाहान की अगुवाई में रवाना होते हैं, घरों में फूल खोंसे जाते हैं। गाँव बड़ा रहने पर दूसरे दिन फूल खोंसा जाता है। जिसका मूल उद्देश्य - गाँव के सभी लोगों को इसमें सम्मिलित करना है। व्यक्तिगत रूप से परिवार प्रमुख भी घर में फूलों की डाली गाड़ कर, रख कर पूर्वजों की याद करते हैं, कुशल मंगल की कामना करते हैं।

डॉ रामदयाल मुण्डा के नेतृत्व में जनजातीय व क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय राँची, आदिवासी कॉलेज छात्रावास करमटोली राँची, तथा मूल संस्कृति - धर्म को छोड़ चुके आदिवासी ईसाई मिशनरियों (आरसी मिशन) द्वारा फिर से इनके मूल आदर्श को गाँव-गाँव में फैलाने के लिए इस पर्व को नियमित, नियंत्रित रूप से (समय का खयाल करते हुए) मनाया जाने लगा है जो सराहनीय है, प्रशंसनीय है। निसन्देह सरहुल वन-वृक्षों की पूजा है, प्रकृति की पूजा है, जिसकी आवश्यकता पर्यावरण शास्त्री, वैज्ञानिक तथा मानव वैज्ञानिक महसूस करते हैं।

3. बुरू (पहाड़) पर्व

बुरू झारखण्ड की जनजातियों का प्रमुख पर्व है। मुण्डा जनजातियाँ इसे बुरू पर्व कहती हैं तथा धूमधाम से मनाती हैं। जबकि बिरहोर (बीर होड़ो), महली, हो, संताल, उराँव इत्यादि जनजातियाँ इसे बुरू, बुरू मगे, मगे जात्रा इत्यादि पर्व के नाम से जानती हैं तथा हर्ष-उल्लास के साथ मनाती हैं। मुण्डा जनजातियों में यह पर्व अघहन पूर्णिमा के दिन से मरं बुरू (मरं=बड़ा) में बुरू पर्व (सोमवार या शुक्रवार) के शुभारम्भ के साथ ही बुरू पर्व का सिलसिला शुरू हो जाता है।

इस पर्व का मूल उद्देश्य जंगली जानवरों तथा मानव का समन्वय संबंध स्थापित करने की कामना करना, प्राकृतिक सहयोग से मानव के पल्लवित-पुष्पित होने की मनोकामना करना और इसके प्रकोप से व्यक्ति, मानव, समाज, परिवार रक्षित होने की खुशी में पहाड़-पहाड़ियों की पूजा-आराधना करना है, संस्मरण करना है, समाज-कुटुम्ब, बन्धु-बान्धव से मिलना-जुलना है, कुशल-मंगल जानना है, परिचय बढ़ाना है, नये कुटुम्ब जोड़ने की पहल करना है और पहाड़-पहाड़ियों तथा जंगलों की सुरक्षा करना है। फलतः इस अवसर पर बहन-बेटियों एवं मेहमानों को आमंत्रित किया जाता है।

मुण्डा जनजातियाँ आवश्यकतानुसार बुरू पर्व के एक-दो दिन पूर्व से ही पूजा स्थल और नाच स्थल (अखाड़ा) की सफाई सामूहिक रूप से करने लगते हैं। वे गाजे-बाजे के साथ गाँव के सिमान के चारों ओर हर्ष-उल्लास के साथ उमंग भरे शब्दों का उच्चारण करते हुए भ्रमण करते हैं, जो पर्व के आगमन की सूचना अन्यों को देने का प्रतीक है। वे कहते हैं –

सिदको नाले सिदको	तोड़ने वाले, भाई तोड़ने वाले
ओ हुआ	हां भाई !
मनि बा सिदको	सरसों फूल तोड़ने वाले
ओ हुआ	हां भाई !
हाए गोड़े	हाय, देखो भाई
ओ हुआ	हां भाई !

मनि बा सिद् को	सरसो फूल तोड़ने वाले
ओ हुआ	हां भाई !

परिवार प्रमुख (माता–पिता) घर में पूजा–पाठ एवं रोटी पकाने की तैयारी करने लगते हैं। जबकि पाहान एवं परिवार, पूरे ग्रामीणों की ओर से पाहाड़ पर पूजा–पाठ एवं प्रसाद बनाने की तैयारी में लग जाते हैं।

पर्व के एक दिन पूर्व या उसी दिन, परिवार प्रमुख (माता–पिता या पति–पत्नी) पूजा के पूर्व तक उपवास करती हैं। पुरुष बगल के जंगल से पत्ते, धूप, पूजा के सामान लाते हैं, जबकि औरतें साफ–सफाई करती हैं। अटकीर सकम् (अटकीर पत्ती), लामाः सकम् (लामा पत्ती) एवं सरजोम सकम् (सखुए की पत्ती) में चावल के आटे से रोटी बनाकर पत्तों से दोनों ओर ढंक दिया जाता है एवं इसे घड़े में उबालते हुए थोड़े पानी में डालकर ढंक दिया जाता है। घड़े की पेंदी में अन्दर की ओर रोटियों को डालने के पूर्व सरजोम (सखुए) की छोटी डाली के टुकड़ों को डाला जाता है, ताकि पेंदी की रोटियाँ न जलें। अन्य बर्त्तनों में राम्बड़ा (उरद) दाल बिना दले पूजा के लिये पकायी जाती है। पूजा की सामग्रियों के रूप में पाड़ाः सान (चीरा हुआ लकड़ी) एवं थापना इली (पूजा करने की हँड़िया) तैयार रहती है। नहा–धोकर आई माँ–बहनें पूजा के सामानों (मुर्गी समेत) को आंगन या बगीचे में पूजा स्थान पर इकट्ठा करती हैं। नहा–धोकर आये परिवार प्रमुख पूजा करने के क्रम में पानी छिड़कते हैं, धुवन जलाते हैं, रोटी का टुकड़ा गिराते हैं, इली अलौकिक शक्तियों के नाम से गिराते हैं तथा कहते हैं –

मर सिरमा रेन सिङ बोंगा, मरं बुरू..	ओ! सर्वश्रेष्ठ शक्ति या देवता, बड़ा पहाड़
सिद् ते दुब कोः पे जरू कोः पे।	एक साथ बैठें, विचार–विमर्श करें।
तिसिं दो ले बुरू तन्, जरूः कोः पे।	आज तो बुरू पर्व मना रहे हैं, आयें बैठें सलाह–मशविरा करें।
मर! हाड़ाम्–बुडी को बुरू बोंगा लोः। जोअर–जगर कोः पे।	ओ! पूर्वजों, पहाड़ देवता के साथ बातचीत करें, प्रणाम पाती हो, बैठें, विचार करें।

पूजा की सभी वस्तुओं को बोंगा के नाम से चढ़ाने के बाद पूजा स्थल को प्रणाम करते हैं तथा परिवार प्रमुख एक दोना इली (हंड़िया) प्रसाद के रूप में ग्रहण करते हैं, अगल-बगल रोटी प्रसाद के रूप में वितरित होती है। उम्र एवं रिस्ते के अनुसार उपस्थित व्यक्ति एक दूसरे को जोहार करते हैं।

जबकि दूसरी ओर उपवास किया हुआ पाहान, भाई-बन्धु ग्राम परिवार के साथ पूजा करने हेतु बुरू स्थल की ओर गाजे-बाजे के साथ रवाना होते हैं। वे अपने साथ पूजा सामग्री के रूप में धूप (सखुए के पेड़ से निकला मोम) सखुए की डाली, बोड़ सेंगेल (पुआल की रस्सी में सुलगता आग) थापना इली, आराः सिम (गेरुवा रंग के मुर्गे) बुरू लाद् (बुरू त्योहार की रोटी) साउड़ी दासाद् (खेर घास) सुतम्, चावल का आटा (हलं), बाल्टी से पानी ले जाते हैं। पूजा स्थल को धोया जाता है या गोबर से लिपा जाता है। लोटे या कटोरे का पानी हाथ में लेकर छिड़का जाता है, सखुए की डाली रखकर या सखुए के खूंटे गाड़ कर उसे चावल के आटे से पोता जाता है। बुरू बोंगा को साक्षी मानकर उसे तागे से लपेटा जाता है, धूप जलायी जाती है। इली रस तीन दोनाओं में रखकर बुरू बोंगा के नाम से डाले जाते हैं। मुर्गे के सिर पर पानी के छींटे लगाकर उसका शुद्धिकरण किया जाता है। आरवा चावल बारी-बारी से छींटे जाते हैं, तथा आग्नेय भाषी मुण्डारी में कहते हैं --

मर! सिरमा रेन सिङ बोंगा, बुरू बोंगा, इकीर बोंगा	ओ! सर्वश्रेष्ठ शक्ति, पहाड़ देवता पानी की गहराई में रहने वाले देवता
तिसिं राः जद् पेयाले, गवारि जद् पेयाले, मिद् ते दुब कोःपे, जारू कोः पे।	आज आमंत्रित कर रहे हैं, बिनती कर रहे हैं, एक साथ बैठें विचार विमर्श करें।
तिसीं दोले बुरू तन्	आज तो हम बुरू पर्व मना रहे हैं
मिद् पानती रे मिद् गाडू रे दुब कोः पे, जगर कोः पे।	एक पंक्ति में, एक आसन में बैठें, बातचीत करें।
बीर-कंदर रे, बुरू-रे, हुवांग रे-कायांग रे, पीड़ी-कुटंड़ी रे	जंगल-झाड़-पहाड़ों में, गड्ढों-नालों में, उबड़-खाबड़ खेतों-मैदानों में

कुला-चंकी बनो: जन क, बिंग सदा: - बिंग पटुड़ी, कुमु ते कुदुब तेओगे अलो क नमो: क।	शेर-चितों-बाघों से सामना न हो, सर्प दंश-सर्प लपेट का सामना स्वप्न में भी न हो।
उरी: केडा, मिडी मेरंग, को होरो कोपे, जंगी कोपे।	गाय-बैल, भैंस-काड़ा, भेड़-बकरियों की रखवाली करें, रक्षा करें।
इना ले अर्जी तन इना ले गवारि तन	यही हमारी बिनती है, यही हमारी प्रार्थना है।
बुरू-बीर कंदर रे, उरी:-केडा, मिडी मेरंग को पोवाकन-पोसाकन को तइन क	जंगल-झाड़-पहाड़ों में भी गाय-भैंस, भेड़-बकरियों की नई संतानें जन्म लें।
इना ले अर्जी तन, इनाले गवारि तन	यही हमारी बिनती है, यही हमारी प्रार्थना है।
बुरू-बीर कंदर रे, उरी-केडा, मिडी मेरंग को पोवाकन-पोसाकन को तइन क	जंगल-झाड़ पहाड़ों में भी गाय-भैंस, भेड़-बकरियों की नई संतानें जन्म लें।
इना ले अर्जी तन, इनाले गवारि तन।	यही हमारी प्रार्थना है, यही हमारी बिनती है।
मर! बुरू बोंगा... मर बुरू, कुटाम बुरू, सुकुअन बुरू, आकदा बुरू, हुमटा: बुरू, गोंड़ा किन्-माड़ा किन्	ओ! पहाड़ शक्ति या देवता.. बड़ा पहाड़, कुटाम पहाड़, सुकुअन पहाड़ आकदा पहाड़, *हुमटा:* पहाड़ .....
रीम्बील जाउड़ी आऊपे पे, जंटी आऊवे पे, गोंगोर आऊवे पे।	घने बादल समेटते, संवारते-सजाते हुए लावें।
रीम्बील-लाहरी आलो क ओटांग व् अर द: बुगी लेक गमाए क।	घने बादल न उड़ाएं और अच्छी वर्षा हो।
द:लि, उतुय: को बुगी लेक होबा कन तइन क।	दाल-सब्जी की खेती अच्छी हो।

बीर-कदंर रे संगा नाड़ी-बदु नाड़ी, *बा-सकम् बुगी लेक* *होबा कन तइन क*	जंगल-झाड़ी में, कन्द-बांदू लतर, फूल पत्तियाँ मोटे हों, स्वस्थ हों, पुष्पित हों, हरे-भरे हों
इना ले गवारि तन	यही हमारी प्रार्थना है।
रोग-दुकु को जीर गिड़ि: पे, *ठपा गिड़ि: पे।*	रोग-दु:ख विभिन्न संसाधनों से, उपायों से दूर करें।
इना गेले अर्जी तन।	यही हमारी मनोकामना है इत्यादि।

कहते हुए बारी-बारी से आरा: सिम (गेरुवे रंग के मुर्गे) की बलि चढ़ाई जाती है एवं पूजा स्थल के चारों ओर तीन बार घुमाया जाता है, जबकि आंशिक विभिन्नताओं के साथ कहीं-कहीं एक मुर्गे को उड़ा दिया जाता है। हो एवं संताल जनजातियों में भी इस पर्व से संबंधित पूजा के क्रम में एक मुर्गे को उड़ा दिया जाता है। इसका मूल उद्देश्य बुरू बोंगा के आशीर्वाद से ज्यादा से ज्यादा मुर्गे-मुर्गियों की वृद्धि करना है। अत: लोग ऐसे मुर्गे को पालने के लिये, पाने के लिए लालायित रहते हैं।

तत्पश्चात् बारी-बारी से सभी नतमस्तक होकर बुरू बोंगा के संस्मरण में पूजा स्थल को प्रणाम करते हैं। पूजा में संलग्न पाहान एवं अन्य एक दूसरे को टीके लगाने लगते हैं और रिस्ते तथा उम्र के ख्याल से एक दूसरे को प्रणाम करते हैं। अन्त में पाहान या बुजुर्ग व्यक्ति, नवजवानों को उपदेश देते हैं।

बुरू (पहाड़) तथा पहाड़ के पत्थरों को व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये अनायास न तोड़ें, डाइनोमाइट से न उड़ाएँ, बुरू बोंगा का आदर करें, जनसमुदाय की भावनाओं का आदर करें, पूर्वजों की भावनाओं एवं सोच का आदर करें, जंगली जानवरों का ख्याल करें ... इत्यादि। नि:सन्देह बुरू बोंगा प्राकृतिक सन्तुलन को बनाये रखने की सोच है, प्रतीक है। जिसकी सुरक्षा करना जनसमुदाय का कर्त्तव्य है, धर्म है। पल भर में बुरू लाद् (लाद्=रोटी) प्रसाद के रूप में बंटने लगता है। बुढ़े-बुजुर्ग एक-एक दोना इली (हंड़िया) प्रसाद के रूप में ग्रहण करने लगते हैं, मुर्गे की खिचड़ी पकने लगती है एवं प्रसाद के रूप में उपस्थित सदस्यों में वितरित होता है।

सूरज ढलते ही गाँव-गाँव से लोग गाजे-बाजे के साथ हुआ-हुआ करते हुए

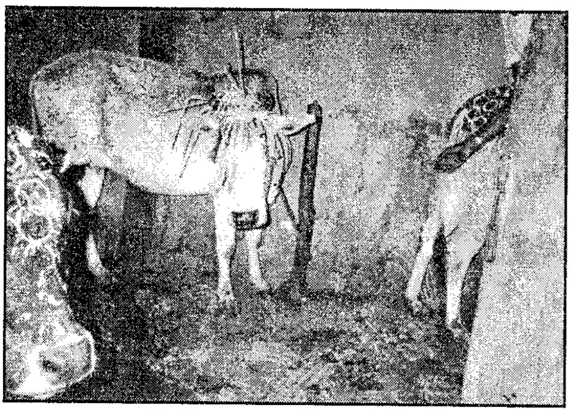
सदल-बल दौड़ते उछलते हुए बुरू देखने आते हैं जो मेले का रूप लिया हुआ होता है। अलग-अलग गाँव की माँ-बहनें, माता-पिता, सगे संबंधियों का दल सुविधा के ख्याल से अलग-अलग आखाड़ों में नाचते, गाते-बजाते हुए देखे जाते हैं।

अन्ततः पाहान एवं उनकी टोली गाजे-बाजे के साथ हर्ष-उल्लास के साथ गाँव की ओर रवाना होने लगता है। गाँव पहुँचते ही घर-घर से महिलाएँ एवं अन्य सदस्य उन्हें पैर धोती हैं, पानी डालती हैं, पानी छिड़का जाता है, स्वागत किया जाता है वे सभी पाहान के घर तक पहुँचते हैं, जहाँ उन्हें बैठाया जाता है। आदर-सत्कार किया जाता है तथा प्रसाद वितरित होता है। शाम होते ही मेले के लोग भी घर आने लगते हैं, यदि वे भी पाहान के गाँव होते हुए पार होते हैं, गुजरते हैं तो उन्हें भी पानी छिड़का जाता है, पानी डाला जाता है।

अतः बुरू पर्व का मानव शास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, पर्यावरण शास्त्रीय, एवं जीव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान है, जिसका संरक्षण हमारा कर्त्तव्य है, धर्म है।

4. सोहराई पर्व-एक सांस्कृतिक धरोहर

बिहार के छोटानागपुर एवं संथाल परगना के राँची (रीची बुरू) हजारीबाग, गुमला, लोहरदगा (लोओर द:) पूर्वी सिंहभूम, पश्चिमी सिंहभूम, धनबाद, गोड्डा, दुमका इत्यादि जिले के विभिन्न गाँवों के आदिवासी, हरिजन, गिरिजन, मुन्डा, संताल, खड़िया, डोम, घासी, कुर्मी, नौवा, कुम्हार, ब्राह्मण इत्यादि लोग धूम-धाम से सोहराई पर्व अपनी समर्थता के अनुसार मनाते हैं। गाँवों, छोटे-शहरों, बड़े शहरों के रहने वाले तथा आदिवासी के साथ रह रहे हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान (ईसाई-मिशनरी) इस पर्व को सोहराई कहते हैं। यह पर्व बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा में भी मनाया जाता है। छोटानागपुर, बंगाल तथा उड़ीसा के लोग यह पर्व साधारणत: अमावस्या, कार्तिक शुक्ल पक्ष-प्रथम एवं कार्तिक द्वितीय शुक्ल पक्ष के दिन मनाते हैं। इस पर्व का मूल उद्देश्य पशुधन में वृद्धि करना, आगे बढ़ना एवं सामुहिकता की भावना को बनाए रखना है। चूँकि सामुहिकता की भावना से ही पशुधन में वृद्धि सम्भव है। साधारणत: पशुओं को चारागाह पर निर्भर रहना पड़ता है जो पड़ती-भूमि, जंगल-झाड़ी इत्यादि से उन्हें प्राप्त होता है। यहाँ के अधिकांश लोग कृषि पर निर्भर हैं। अतएव पशुओं से फसलों की रक्षा की भी आवश्यकता है इसके लिए तथा टोले-मुहल्ले के विकास के लिए सामुहिकता की भावना की आवश्यकता है, जिसका प्रतीक सोहराई है।



पशुओं को श्रृंगार एवं आराधना करते हुए

फतेहपुर, गुरूड़पीड़ी, हेसो, जुगी टोला (नामकुम, राँची) के लोग सोहराई की खुशियाली में 3 दिन, 5 दिन, 7 दिन पहले से ही शाम होते ही खाना खाकर जाहली

करने लगते हैं अर्थात् नगड़ा, ढोल बजाते हुए, गाना गाते हुए समूह में प्रत्येक परिवार के उस कमरे या घर में जाते हैं जहाँ मवेशी, काड़ा गाय-बैलों को रखा जाता है जिसे मुण्डारी भाषा में गोंड़ा कहा जाता है। वहाँ पशुओं को संबोधित करते हुए लोग गाना गाते हैं, सींग में तेल लगाते हैं, नाचते-डेगते हैं। जैसे –

अरे हो ....रे...रे..रे	अरे संग साथी मदद करने वालों
तिसीं दो, उरि-गई को, केडा को	आज, गाय-बैल काड़ा-भैंसों
आपेया: गे पर्वो तन हो	तुम्हारा ही पर्व है।
बच्छर दिन अपे ते कमि ले	सालों भर तुम लोगों से, काम
अवु केदा हो....हो....हो...	लिये हो.... हो
तिसीं दो सुनुम ले ओजो: ले पेया,	आज तुम्हें तेल-लगाएंगे।
संतावो कोपे हो....हो	आराम करें....हो
अरे हो....रे....रे....रे....रे।	अरे संगी-साथी मदद करने वालों

कुछ ही देर में परिवार प्रमुख तम्बाकू, बीड़ी के साथ निकलते हैं, तथा गाना गाने वालों को बीड़ी, तम्बाकू से स्वागत करते हैं। इसी तरह वे गाँव के प्रत्येक परिवार में जाते हैं, गाना गाते हैं। इस तरह सुबह हो जाती है। इस प्रक्रिया को वे कार्तिक अमावस्या की रात तक करते हैं। कार्तिक अमावस्या की रात को सात-आठ बजे प्रत्येक परिवार से अरवा चावल, सिंदुर तथा समर्थता के अनुसार मुर्गी ले जाते हैं, जिसकी बलि गोट बोंगा के नाम से ग्राम के सिमाना पर दी जाती है। उपस्थित ग्रामीण (सभी जाति के लोग) अरवा चावल एवं मुर्गी की खिचड़ी बनाकर वहीं खा जाते हैं तथा घर लौटते हैं। घर के अन्य सदस्य मिट्टी के बने टाटियों में दिए जलाते हैं। उसी तिथि को दिन में लोग पशुओं के लिए घास काटते हैं, इकट्ठा करते हैं। दूसरे दिन सुबह होने के पहले पशुओं को 'राखा' (चारागाह, जहाँ पर दो-तीन महीने पूर्व से घास सुरक्षित रखा जाता है) ले जाते हैं। गाय-बैलों-काड़ाओं का जब पेट-भरता है तो उन्हें तालाब या नदी में नहलाया जाता है। इधर घर की माँ-बहनों तथा अन्य सदस्य आंगन को संवारती हैं, सजाती हैं, चावल के आटे के घोल से पुई (चिकनाहट करने वाला साग) का रस मिलाकर आकर्षक ढंग से लिखती हैं, चित्रांकित करती हैं। बीच-बीच में सिंदूर लगाती हैं, बुनुम हासा (दीमक के टिले की मिट्टी) में सिसिरकद लगाती हैं।

तब गाय-बैल, काड़ाओं को घर लाया जाता है। महिलाएँ कांसे के बर्तन में पानी लेकर तैयार रहती हैं। ज्योहीं पशु गोंड़ा में प्रवेश करते हैं, उनके पैर धोए जाते हैं।

परिवार के प्रमुख सुबह से धान फसल के पौधों से मेड़ूबाड़ और जोनोः (झाड़ू) बनाते हैं (विशेष प्रकार का फूल जिससे गाय-बैल-काड़ाओं को सिंगार किया जाता है)। गाय-बैलों के घर में प्रवेश करने के बाद गोरेया देवता की पूजा गोंड़ा में करते हैं। दो से लेकर सात मुर्गियों की बलि दी जाती है, बलि देने के बाद बारी-बारी से प्रत्येक मुर्गी के गर्दन को गाय-बैल एवं मवेशियों के माथे से सटाया जाता है ताकि खून से बैल का माथा लाल हो जाए। पूजा के क्रम में ही दुल लाद् (छिलका रोटी), तीन दोना हंड़िया एवं उरद, चावल, कुरथी, कोदो से बनी खिचड़ी की पूजा की जाती है। तत्पश्चात् प्रसाद के रूप में प्रत्येक गाय-बैल, भैसों को खिचड़ी खिलाया जाता है। जबकि नौवा जाति के लोग केवल छिलका रोटी एवं खिचड़ी की पूजा करते हैं तथा गाय-बैलों को खिलाते हैं। कुछ ही देर बाद अरवा चावल के आटे का घोल बनाकर उसमें चिलम या छोटा पैला डुबो कर पशुओं के देह पर स्टाम्प (मुहर) लगाया जाता है, बीच में सिन्दूर अंगुली से लगाते हैं। सिर पर धान के फूलों के सिंगार तथा गेंदा फूल लगाए जाते हैं। घर के बाहर आंगन में धोकर रखे हल-जुंआट-खारा इत्यादियों को भी चावल के घोल के आटे से सिंगारा जाता है। तत्पश्चात् महिलाएँ पशुओं का चुमान करती हैं (आरती उतारती हैं) और अंत में गाजे-बाजे के साथ, ढोलों के झंकार के साथ बारी-बारी से प्रत्येक परिवार के पशुओं को निकाला जाता है, दौड़ाया जाता है। गाँव के बड़े-बूढ़े, बच्चे, जवान, महिलायें पशुओं को उत्सुकता के साथ देखते हैं, खुशी मनाते हैं। आधे घंटे के बाद उन्हें पानी पिला कर घर लाया जाता है और खाने के लिए घास दी जाती है। दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक द्वितीय शुक्ल पक्ष को झुण्ड में लोग गाजे-बाजे के साथ प्रत्येक परिवार में जाते हैं जहाँ उन्हें खाने के लिए रोटी तथा प्रसाद के रूप में दोना हंड़िया दिए जाते हैं। उनमें से चार-पाँच सदस्य प्रत्येक परिवार से एक पैला चावल, दाल, सब्जी, प्याज, मिर्च इत्यादि समर्थता के अनुसार प्राप्त करते हैं, इकट्ठा करते हैं। शाम को गाँव के सिमान पर झुण्ड के लोग पुवाल के छोटे ढेर को जलाकर मच्छरों को मारने तथा डाइन-पिशाचों तथा प्रेतात्मा को मार भगाने की आकांक्षा रखते हैं। प्रत्येक परिवार से प्राप्त चावल-दाल इत्यादियों को तिथि निश्चित करके खिचड़ी बनाकर खाते हैं, आनन्द मनाते हैं।

आंशिक विभिन्नताओं के साथ दड़दाम, चकला, सरना टोला, बारेडीह (ओरमांझी), तमाड़, अजयगढ़, लोटा, नागेडीह (सिल्ली), लोदामा (कर्रा), लापुंग, तोरपा, चिंचल-सुकानडीह (खुंटी), झलक (पं. सिंहभूम), लेदा, घाटशिला (पूर्वी सिंहभूम), बुड़मू, मदनपुर, कोकोदरो, पिठौरिया, सुतियाम्बे (राँची), मोजूडीह,

सितानाला (धनबाद), बानो (गुमला), हेसेल (लोहरदगा), मुरूम (कांके), कराम्बे, सोन डिम्बरा (हजारीबाग), चामा, नगड़ी, सुकुरूहुटू (कांके), भरनो (गुमला), लोवाडीह, (राँची स्थानीय) सिमडेगा, कुड़ू (लोहरदगा), चड़िदा (चंडी दाः) सिंदरी (सिंदुरी), खीराबेड़ा बाड़ेडीह (पुरूलिया, बंगाल), लिन्ड्रा, जोबाघाट, बांगुरकेला, मिद, कुंदरी, तुमकेला, गर्जन, कुचइता (सुन्दरगढ़), उड़ीसा, के लोग सोहराई मनाते हैं।

दड़दाग, ओरमांझी गाँव के लोग अमावस्या की रात चावल के आटे को पानी में हल्का घोलकर सखुए की पत्ती में रखकर भी तेल डालते हैं, दिये जलाते हैं तथा दरवाजे पर रखते हैं। उस रात को गाँव के लोगों को मछली खाना अनिवार्य है। वे जिन्दा केंकड़े के पीठ पर भी दिया जलाकर रखते हैं। केंकड़ा कुछ देरी तक इधर-उधर घुमता-फिरता है। फलतः लोग खुश होते हैं।

सखुए की पत्ती का तेल सूख जाता है तो रोटी अधपकी अवस्था में रहती है, दूसरे दिन सुबह बुजुर्ग व्यक्ति उन रोटियों को पुनः पका कर खाते हैं। अमावस्या की रात गोरखिया/धंगड़ा (गाय-बैल चराने वाले जवान) लोग ढोल-नगाड़े के साथ प्रत्येक परिवार में जाते हैं, जिसमें मुण्डा, महतो, साहू, मुसलमान इत्यादि सभी जाति के लोग शामिल होते हैं। वे पैसे, महुआ, धान, गुंदली, मकई, कद्दू इत्यादि इकट्ठा करते हैं।

तत्पश्चात् निर्णय लेते हैं कि उपरोक्त वस्तु का सदुपयोग किस तरह से किया जाये। अन्ततः वे उन वस्तुओं को सामुहिक रूप से खाते-पीते हैं दूसरे दिन (कार्तिक शुक्ल पक्ष प्रथम) उस गाँव के मुसलमान भी गाय-बैलों को नहलाते हैं, उरद, मकई, चावल की खिचड़ी बनाकर खिलाते हैं तथा घर से ढोलक-टीना इत्यादियों को बजाते हुए घर से निकालते हैं, दौड़ाते हैं। इसी तरह पिठौरिया के मुसलमान भी गाय-बैलों को नहलाते हैं सिंगार करते हैं तथा दौड़ाते हैं, जबकि तमाड़ के एक-दो मुसलमान परिवार के लोग बगल के मुण्डा जाति के लोगों से गाय-बैल-काड़ाओं के सिंग पर तेल लगवाते हैं, अमावस्या की रात दिया जलवाया जाता है, पूजा-पाठ करवाया जाता है, खिचड़ी खिलवाया जाता है। कुड़ू के मुसलमान भी अमावस्या के दिन दिया जलाते हैं।

पक्की सोहराई (कार्तिक शुक्ल पक्ष प्रथम) के दिन कुड़ू के लोग गाय-बैलों को एक जगह जमा करते हैं और डाईर लगाते हैं अर्थात् सूअर के बच्चे को गाय-बैलों के ऊपर फेंका जाता है। जिस व्यक्ति का बैल सूअर को जान से मारने के लिए दौड़ाता है अर्थात् सिंग से प्रहार करना चाहता है तो लोग उसे डाईर लगाना कहते हैं। अतः बैल

मालिक को धोती, बैल चराने वालों को देना पड़ता है। इस गाँव के लोग ऐसा इसलिए करते हैं ताकि गाय-बैल, जंगल-झाड़ी, पहाड़-पर्वतों के निकट जंगली चिते-बाघ का मुकाबला डटकर करें। दूसरे दिन गाय-बैल चराने वाले घर-घर नाचते हैं, चावल इकट्ठा करते हैं, लाठी भांजते हैं तथा खा-पीकर जतरा मेले की ओर रवाना होते हैं।

सिमडेगा के खड़िया भी अन्य खड़िया भाईयों की तरह सोहराई के दिन (कार्तिक शुक्ल पक्ष प्रथम) सूअर की पूजा करते हैं, सूअर को काड़ा के सिंग पर पटक कर मारते हैं तथा उसके मांस को पकाकर प्रसाद के रूप में हंड़िया के साथ ग्रहण करते हैं। अगल-बगल के लोगों तथा मेहमानों को प्रसाद के रूप में खिलाते हैं। तत्पश्चात् बैलों को सिंगार करने के बाद बारी-बारी से घर से बाहर निकाला जाता है, दौड़ाया जाता है। तोरपा और लापुंग के क्रिस्तान भी इस गाँव के अन्य लोगों की तरह सोहराई मनाते हैं, जाहली करते हैं तथा गाय-बैलों को सिंगार करने के पश्चात् दौड़ाते हैं, वे मात्र मुर्गी की बलि नहीं चढ़ाते हैं। डाहा टोली, तिग्गा (कर्रा) के क्रिस्तान भी गाय-बैलों को खिचड़ी खिलाते हैं। झलक (राजनगर, पश्चिमी सिंहभूम) के संथाल, कुनामी (अमावस्या) के दिन जाहेर में (जायेर) मिल-जुलकर पूजा करते हैं। गाँव के प्रत्येक परिवार से चावल, सिन्दूर, अरवा चावल, मुर्गी इत्यादि ले जाते हैं। पूजा के क्रम में नायक तीन अण्डा रखते हैं मुर्गियों की बलि चढ़ाते हैं। कुछ ही देर में खिचड़ी बनाकर खाते हैं तत्पश्चात् गाय-बैलों को उसी रास्ता से चलवाया जाता है। जिस व्यक्ति का बैल अण्डा फोड़ देता है उसे लोग कंधे पर उठाकर नाचने लगते हैं, चूँकि अण्डा, गाय-बैल द्वारा फोड़ा जाना शुभ मानते हैं, अतः जिस व्यक्ति का बैल अण्डा फोड़ता है, उस व्यक्ति को गाँव के लोगों को एक-एक दोना हंड़िया पिलाना पड़ता है। दूसरे दिन गाजे-बाजे के साथ घर-घर गाना गाते हुए जाते हैं जबकि अंतिम दिन प्रत्येक घर से एक-एक बैल को सिंगार करके हटिया में अर्थात् अखड़ा में बांधते हैं। वे ढोल-नगाड़ा-टीना बजाते हुए चमड़ा, बैल-भैंसों के ऊपर फेंकते हैं फलतः बैल-भैंस डेगते हैं, भागते हैं, लोगों पर प्रहार करने का प्रयास करते हैं। कुछ देर बाद सब लोग नाचते हैं, गाते हैं, आनन्द मनाते हैं, अंतिम दिन घर-घर से प्राप्त चावल-दाल-सब्जियों को निश्चित तिथि में मिल-जुलकर पिकनिक स्थल पर पकाते हैं, खाते हैं। लेदा (घाटशिला पूर्वी सिंहभूम), के संताल क्रिस्तान भी अन्य संथाल भाईयों की तरह सोहराई मनाते हैं परन्तु वे हंड़िया नहीं पीते हैं।

लिन्ड्रा, जोबाघाट, बांगुरकेला, मिदकुदरी, तुमकेला, गरर्जन, कुचईता (सुन्दरगढ़, उड़ीसा) इत्यादि गाँव के आदिवासी एवं गैर आदिवासी भी फतेहपुर, गरूड़पीड़ी

(नामकुम, राँची) के लोगों की तरह सोहराई मनाते हैं, मात्र वे ईन्दी के जतरा के दिन सामुहिक रूप से प्राप्त चावल-दालों को खिचड़ी बनाकर खाते हैं तथा ईन्दी जतरा देखने चले जाते हैं। चड़ीदा (चण्डी द:), खीराबेड़ा, सिंदरी, तोड़ांग, बाड़ेडीह (बाघमुण्डी, पुरूलिया) के लोग अमावस्या के दिन जाहली करते हैं, विभिन्न खाने की वस्तुओं को इकट्ठा करते हैं तथा दूसरे दिन गाय-बैलों को सिंगार करने के बाद घर से बाहर निकालते हैं। अमावस्या की रात प्राप्त खाने की वस्तुओं को मिल-जुलकर खा जाते हैं।

संथाल परगना (बिहार) के संथाल बड़ी धूमधाम से सोहराई मनाते हैं वे मकरशंक्रांति के अवसर पर (7-14 जनवरी तक)सोहराई मनाते हैं। वे इस अवसर पर बहन-बेटियों-दामादों को निमंत्रित करते हैं। सोहराई के प्रथम दिन को वे ऊम बोलते हैं। ऊम का अर्थ है पानी में डुबकी लगाना। इस दिन वे सर्वसम्मति से बैठते हैं। 12-1 बजे दिन को जाहेर में घर-घर से अरवा, चावल, मुर्गी, हंड़िया, रोटी सिंदुर ले जाते हैं। वहाँ मुर्गियों की बलि चढ़ाते हैं अण्डों की पूजा करते हैं। तत्पश्चात् खिचड़ी बनाकर वे खाते-पीते हैं। उसके बाद उस रास्ते से गाय-बैलों को ले जाते हैं। जिसका बैल अण्डा सुंघता है, उसे भाग्यशाली समझा जाता है तथा उस व्यक्ति को आने वाले साल, पूरे गाँव के लोगों को एक-एक दोना हँड़िया पिलाना पड़ता है। दूसरे दिन मवेशियों को सिंगार किया जाता है। गले में रोटी की माला टांग देते हैं। शाम को खुंटा में बांधकर ढोल-नगाड़ा टीना बजाकर नचाया जाता है। चौथे दिन जाहली करते हैं। पाँचवे दिन हाकु-कड्कम (मछली-केंकड़ा) मार कर खाते हैं। छठा दिन अगल-बगल के जंगल-पहाड़ों में शिकार करने जाते हैं। सातवें तथा अंतिम दिन केले के पेड़ को तुंई (तीर से मारते हैं) करते हैं, जो तुंई करने में समर्थ होता है उसे कंधे पर ढोकर लोग नाचते-गाते हैं, आनन्द मनाते हैं।

नि:सन्देह सोहराई, पशुओं से संबंधित पर्व है, जिसमें किसी न किसी रूप में सभी जाति-धर्म के लोग संबंधित हैं। अत: यह पर्व सामुहिकता की भावना से ओत-प्रोत है जिसकी आज आवश्यकता है।

5. करमा पर्व एवं उसका महत्व

हमारा भारत विभिन्न उत्सवों, पर्व-त्योहारों का जन्मस्थली है, जिसे साधारणतः लोग देवी-देवता, भूत-प्रेत (अलौकिक शक्ति, अदृश्य शक्ति) से संबंधित मानते हैं। यहाँ के विभिन्न जाति, धर्म, वर्ग, प्रजाति से संबंधित लोग पर्व-त्योहारों, उत्सवों से बंधे हैं, जुड़े हैं, जिनके द्वारा वे व्यवस्थित, नियमित, नियंत्रित एवं निदेशित होते हैं। इनमें करमा पर्व एवं करम देवता भी एक हैं। करमा पर्व बिहार के राँची, गुमला, लोहरदगा, डालटेनगंज, हजारीबाग इत्यादि जिलों की आदिवासी एवं गैर आदिवासी जातियाँ मनाती हैं। इसके अतिरिक्त बिहार से सटे बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा आसाम की आदिवासी एवं गैर आदिवासी जातियों द्वारा भी छिट-पुट रूप से मनाया जाता है। यह पर्व क्रिश्चियन बाहुल्य रेंगई (पलामू) जैसे गाँवों में भी धूम-धाम से मनाया जाता है। इस गाँव के क्रिश्चियन आदिवासी भी करम देवता की पूजा, पाहान द्वारा अथवा नन क्रिश्चियन आदिवासी द्वारा न करने पर करम देवता के नाराज होने की आशंका रखते हैं। अनिष्ट घटना घटने की आशंका करते हैं।

आज यह पर्व आरसी मिशन, राँची, जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची, यदुवंश आदिवासी कॉलेज छात्रावास, राँची तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं द्वारा धूम-धाम से मनाया जाने लगा है। इस पर्व का मूल उद्देश्य नैतिक मूल्यों को बनाये रखते हुए कर्म करना एवं आगे बढ़ना है चूंकि धर्म इसी में निहित है। लोगों में आपसी मेल-मिलाप एवं एक दूसरे को सहयोग करते हुए आगे बढ़ने का दर्शन इसी में निहित है।



करम पूजा में शामिल निवारणपुर आश्रम, राँची के छात्र-छात्राऐं

साधारणतः करम देवता (करम राजा) की पूजा एवं करमा पर्व भादो एकादशी को होता है। हालांकि सुदूर जंगल-झाड़-पहाड़-पर्वतों

के निकट के आदिवासी एवं गैर आदिवासी गाँवों में भादो महीने की शुरूआत होते ही खेतों से काम कर, घर लौटने के बाद शाम को गाजे-बाजे के साथ, हर्ष-उल्लास के साथ, भाई-बहन, बड़े-बुजूर्ग, माँ-बाप-बेटा, आने वाले करम की तैयारी में नाचते-गाते हैं, आनंद मनाते हैं, जिसमें अगल-बगल के, टोले-मुहल्ले के, गाँव के सदस्य भी नाच-गान में शरीक होते हैं।

कई लोग भादो द्वादशी के दिन भी करम राजा की पूजा करते हैं। इसी तरह करम राजा की पूजा विभिन्न नामों - करम, दशई करम, महादेव करम, बूढ़ी करम के नाम से भिन्न-भिन्न तिथियों में दशहरा के पूर्व पूजा की जाती है तथा लोग हर्ष-उल्लास के साथ नाचते गाते हैं, आनन्द मनाते हैं।

साधारणत: करम देवता की पूजा एंव करमा पर्व निम्न परिस्थितियों में भी व्यक्तिगत रूप से अर्थात् पारिवारिक रूप से मनाया जाता है।

यदि उबाले हुए धान उग आयें, आंगन में करम का पौधा उग जाये तो लोग शुभ लक्षण समझते हैं तथा करम राजा की पूजा करने लगते हैं, ताकि पूजा न करने से अनिष्ट घटना न घटित हो।

जब किन्हीं को करम देवता की पूजा-अर्चना के बाद संतान प्राप्त होती है तो वे करम देवता की पूजा पारंपरिक ढंग से करते हैं, या कई वर्षों तक करते हैं।

कई गाँवों में व्यक्तिगत रूप से (पारिवारिक रूप से) करम देवता की पूजा करते हैं तो कई गाँव में सामूहिक रूप से, परन्तु नृत्य-संगीत, नाच-गान में सभी लोग शरीक होते हैं। करम देवता की पूजा-आराधना हेतु – तीन दिन, पांच दिन, सात दिन पहले से ही विशेषत: कुंवारी लड़कियाँ, औरतें तैयारी करती हैं। वे तीन दिन या पांच दिन पहले, नहा-धोकर आती हैं और जावा उठाती हैं अर्थात् नहा-धोकर, नये बांस की टोकरी में बालू भरती हैं। नई टोकरी के अभाव में पुरानी टोकरी में भी बालू भरती हैं, जिसमें चना, मकई, उरद, धान, गेहूं, जौ, सुरगुजा, हल्दी में भिंगो कर रखती हैं, ताकि वे अंकुरित हों। जावा उठाने के दिन से ही वे उपवास करती हैं एवं करम देवता के नाम से ध्यान मग्न होती हैं। भादो एकादशी के दिन शाम बेला में, युवक-युवतियाँ जंगल से करम डाली को नाचते-गाते, स्वागत करते हुए अखड़ा (यदि सामूहिक पूजा हो) या, आंगन (यदि व्यक्तिगत हो) में लाती हैं, तथा गाड़ती हैं। शाम को पूजा होती है, जिसमें उपवास की हुई महिलाएँ शरीक होती हैं जो अपने साथ जावा, धुवन, सिंदूर, चूड़ा इत्यादि ले जाती हैं। पूजा गाँव के बुजूर्ग व्यक्ति अथवा पहान द्वारा की

जाती है। तत्पश्चात वे साधारणत: करम पर्व में छिपी छोटी सी कहानी बताते हैं, जो सारगर्भित है, उपदेशमूलक है – 'कहानी का सारांश निम्न प्रकार है' :–

करमा एवं धरमा दो भाई थे, करमा बड़ा भाई तथा धरमा छोटा भाई था। दोनों अलग–अलग मन: स्थिति के थे। करमा मेहनत करने, कठोर परिश्रम करने, समय की बचत, धन की बचत पर विश्वास करते थे। करमा का मुख्य पेशा व्यापार था, जबकि धरमा, प्रेम, स्नेह, विनम्रता, आदर, पूजा, धर्म, नैतिकता, सरलता, सामूहिकता पर विश्वास करता था तथा उसका मुख्य पेशा कृषि था।

एक समय करमा व्यापार करने हेतु विदेश चला गया। व्यापार से उसने काफी धन अर्जित किया। फलत: वह घमंडी, स्वाभिमानी, ताकतवर महसूस करने लगा तब विदेश से वह अपने गाँव–घर के लिए रवाना हुआ। गाँव की सीमा पर अपने सहयोगियों के साथ अपार धन–सम्पत्ति के साथ विश्राम करने लगा तथा विदेश से गाँव लौटने की सूचना उसने अपने भाई को दी, ताकि गाँव की परिपाटी एवं परम्परा के अनुसार भाई स्वागत करने के लिए गाँव की सीमा पर आये। परन्तु छोटा भाई धरमा परिवार और गाँव के लोगों के साथ पूजा–उपासना में मशगूल था, ध्यानमग्न था। अत: अपने भाई का स्वागत समयानुसार करने में असमर्थ रहा। फलत: करमा आग बबूला होकर गुर्राता हुआ आया, धरमा के पूजास्थल को विनष्ट किया तथा 'करम राजा' को उखाड़ कर फेंकना चाहा। भाई धरमा तथा गाँव के लोगों द्वारा जोड़–बिनती करने के बावजूद भी करमा ने 'करम देवता' को उखाड़ कर फेंक दिया। फलत: गाँव के सभी लोग दु:खी हुए, रोने–चिल्लाने लगे, संताप करने लगे। तत्पश्चात करमा पुन: गाँव की सीमा पर पहुँचा, जहाँ धन–सम्पत्ति रखी थी। वहाँ वह यह देख कर आश्चर्यचकित एवं अचंभित हुआ कि धन–सम्पत्ति वहाँ नहीं थी। अत: निराश मन से, दु:खी मन से खोज–बीन करने लगा। खोज–बीन के क्रम में उसने विशेषज्ञों (वैद्य–ओझा, डाक्टर, वैज्ञानिक) से विचार–विमर्श किया। उन्होंने उसे करम राजा का आदर–सत्कार, पूजा आराधना करने की सलाह दी। करमा 'करम राजा' के निवास स्थान से पूर्णत: अपरिचित था। अत: उन्हें सात समुद्र पार से लाने की सलाह दी गयी। करमा, करम देवता की खोज में निकल पड़ा, चलते–चलते जब उसे प्यास लगी तो तालाब को देखकर, उसने तालाब का पानी पीना चाहा। दुर्भाग्य से पानी में कीड़े भरे हुए थे। अत: वह पानी नहीं पी सका। जब उसे भूख लगने लगी तो खाने के लिए गुलर (लोवा) के पेड़ से फल तोड़े, परन्तु सभी फल पिल्लुओं से भरे पड़े थे। अत: वह फल भी नहीं खा सका।

आगे एक गाय अपने बच्चे को दूध पिला रही थी। उसने गाय को अपना दुःखड़ा सुनाते हुए दूध दूहने की इच्छा जाहिर की। दूध दूहने के क्रम में दूध के बदले खून गिरने लगा। अतः वह दूध नहीं पी सका।

आगे चूड़ा कूटने वाली महिला से अपनी व्यथा बताते हुए चूड़ा खाने की इच्छा जाहिर करता है, परन्तु चूड़ा वह नहीं खा पाता है, चूंकि चूड़ा में कंकड़ एवं भूसे भरे पड़े थे। पुनः वह चलते हुए सुन्दर घोड़ा देखता है। घोड़े से अर्जी-बिनती करते हुए घोड़े पर चढ़ कर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना चाहता है, परन्तु घोड़ा भाग जाता है।

अंततः वह निराश होता है, लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ता है, तब उसे एक नदी मिलती है। नदी के बीच से एक मगरमच्छ आता है, तथा वह उसे अपने पीठ पर चढ़ाकर 'करम देवता' के पास ले जाता है। 'करम देवता' करमा को अग्नि परीक्षा में सफल होते देख कर, खुश होते हैं। वरदान देते हैं तथा करम डाली की पूजा करने की सलाह देते हैं।

अतः करम पूजा एवं पर्व करम राजा या करम देवता के आदेशानुसार 'करम डाली' करम के अवसर पर नाचते-गाते हुए घर ले आते हैं, आंगन में गाड़ते हैं, पूजा करते हैं, प्रसाद (चना, उरद, जौ, गेहूं, मकई ज्वार, कोदो का अंकूर एवं गुड़) वितरण करते हैं। तत्पश्चात नाचते-गाते हैं, खुशियाँ मनाते हैं। निःसंदेह करम की कहानी उपदेशों से ओत-प्रोत है, जिसमें कर्म एवं धर्म के योग से विकास करने की झलक है। कहानी के बाद लोग हर्ष-उल्लास के साथ नाचते-गाते हैं। आनन्द मनाते हैं तथा दूसरे दिन सुबह करम डाली को नदी या तालाब में विसर्जित कर देते हैं तथा इस तिथि को प्रायः हरेक परिवार के लोग अपने खेतों में भेलवा की डाली, केंदू की डाली, सखुए की डाली, करम की डाली गाड़ते हैं। भेलवा की पत्ती एवं डाली फसल में लगे कीड़ों को मारने के लिए भी सर्वोत्तम है। खेतों में डालियों को गाड़ना कर्म करने का प्रतीक है तथा पेड़ों की रक्षा करते हुए पर्यावरण की रक्षा का प्रतीक है। खेतों में वृक्ष की डालियों को गाड़ने पर उस पर चिड़ियाँ बैठती हैं तथा फसल के हानिकारक कीड़ों को खा जाती है। फलतः खेती अच्छी होती है।

अतः आज करमा पर्व का कृषि विज्ञान, समाज शास्त्रीय, पर्यावरण की रक्षा एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान है।

6. रोग चटु गिडि/रोगहार
(बिमारी एवं गंदगी भगाओ अभियान)

झारखण्ड के प्रमुख रिवाजों में रोगहार या, रोग चटु गिडि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका मूल उद्देश्य घर-गाँव-परिवार की गंदगियों एवं गंदगियों से उपजी बिमारियों को जड़मूल से उखाड़ फेंकना है। अतः आदिवासी एवं उनके साथ रहने वाले लोग प्रतिवर्ष आंशिक विभिन्नताओं के साथ वा पर्व/बाहा पर्व के पूर्व या उसके बाद, साल में एक बार (अन्यथा आवश्यकतानुसार कई बार) घर-घर से/ आंगन एवं पास-पड़ोस से गंदगी, रस्म--रिवाजों एवं पूजा-पाठों को पूरा करते हुए दूसरे सीमान पर निकाल बाहर करते हैं। ताकि लोग देखें एवं वे भी इस अभियान में शामिल हो जायें।

यही कारण है कि राँची से टाटा जाने के क्रम में हाईनेशनल वे 33 के किनारे प्रायः घड़ा, झाड़ू, फटे कपड़ों के झुण्ड को फेंका हुआ पाते हैं जो फूलों से भी सजे हुए होते हैं। रोग चटु गिडि का प्रचलन प्रायः सभी झारखण्डी गाँव में है/ रहा है। उदाहरण स्वरूप राँची, लोहरदगा, गुमला, पूर्वी सिंहभूम, पश्चिमी सिंहभूम, हजारीबाग, सुन्दरगढ़, मयूरभंज, क्योंझर, पुरूलिया, मिदनापुर के बुंडू बेडा, कोचड़ो, सिंगार साड़ी, हुडवा, पाटेद, उलीडीह, हुवांग हातु, रामडेरा, सारजोम इकीर, चिरूडीह, हेलता, चातम, नावाडीह, कुटाम, हेसाःडीह, हुपुडीह, सापारूम, टिकर, तुता, बोड़ा, पुंजी हेसाः, हाड़ाद, चोगा, पुंडी हेसाः, साड़ी, सितानाला, पुरनाडीह, बागानडीह, पोटलोडीह, चातमवाड़ी, बांधडीह, होंट गुगुई, बाशीडीह, भेलाईडीह, सालाईडीह, काटेया, केंदुवाडीह, पोलपोल, केंदा, पाराए, टांड़, लिंड्रा, भिद कुंदरी, करकटा, बांकटोला जोबाघाट, जोबापान पोष, झीरपानी, जगदा, बेलकुदर इत्यादि गाँव हैं।



फेंकी गई गंदगियाँ

खिजरी (राँची) प्रखण्ड के हेसो, गरूड़पीड़ी, सारजोम इकीर इत्यादि गाँव के लोग

इस कार्य के लिए चंदा करते हैं, बकरी खरीदते हैं, तिथि निश्चित करते हैं। अन्ततः पुरूष वर्ग के लोग 2-3 बजे रात को बकरी को गाँव के दूसरे सीमान पर ले जाकर प्राकृतिक शक्तियों की पूजा आराधना करते हैं, स्मरण करते हैं - वे कहते हैं

मर बुरू बोंगा-इकीर बोंगा	ओः सर्वशक्तिमान शक्तियों,
रोग इदि गिडिः पे ठपा गिडिः पे	बिमारी लेते जाएँ, दूर करें।
डाइन कुदरी, विषाण कुदरी,	ओ डायन, विषाण कुदरी,
रोग जोः गिडिः पे।	रोग झाड़ू से समेटते हुए लेते जायें।
इना गेले जोअर तन, इना गेले गवारि तन	यही हमारी विनती है, प्रार्थना है। इत्यादि।

तत्पश्चात् वे बकरी को जिन्दा छोड़कर उपस्थित सदस्य तेजी से भागने लगते हैं ताकि बकरी उनके साथ न आए एवं बिमारी दूर हो।

दिन को महिलाएँ ग्रामीण दस्तूर के मुताबिक घर-घर से गन्दगियाँ, पुराना घड़ा, पुराने कपड़े, पुराने झाड़ू इकट्ठा करती हैं, घड़े में डालती हैं, अपने-अपने घड़े को फूलों से सुसज्जित करती हैं तत्पश्चात् गंदगियों को गाँव के दूसरे सिमान पर फेंक देती हैं। परिहास सम्बन्ध वाले ननद-भौजी, पोती-दादी इस क्रम में एक दूसरे को मजाक करती हैं, एक-दूसरे का वस्त्र/साड़ी खींचने लगती हैं ताकि हंसी-खुशी से गन्दगियों को दूर में फेंका जा सके।

आंशिक विभिन्नताओं के साथ सुन्दरगढ़ जिले के विभिन्न गाँव में होली के पहले तिथि निश्चित करते हैं, तत्पश्चात् पुरुष वर्ग के सभी लोग रात को दस-ग्यारह बजे केंदू (तिरूल) का डण्टा पकड़ते हैं। दौड़ते हुए प्रत्येक व्यक्ति के घरों के छत, विभिन्न वस्तुओं, आंगन तथा झाड़ियों को पीटते हैं तथा चिल्लाते हैं :-

हानिः या नीर तनाए, दलिः पे, साबिः पे।	अरे बिमारी फैलाने वाला प्रेतात्मा भाग रहा है, पीटो, पकड़ो।
लेलीः पेया, कोटोंग गी:पेया, हार गिड़ि गिः पेया।	देखो, छेंको, भगाओ।
धावड़ीः पेया, दालीः पेया।	दौड़ो, पीटो।

अन्ततः रात को पुरुष सदस्य दौड़ते, चिल्लाते हुए गाँव के सिमान पर तिरिल (केंद) के अपने-अपने डण्टों को फेंक देते हैं। दिन को महिलाएँ पुराने बेकार वस्तुओं-झाड़ू, टोकरी, खाने का पुराना घड़ा तथा गन्दगियों को अपने-अपने घरों से निकाल कर, मिलकर कतार में जाते हैं तथा सिमान पर फेंक देते हैं।

निसन्देह रोग हार/रोग चटु गिडि का रिवाज स्वास्थ्य एवं सफाई के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय है।

7. आदिवासी समाज में एक दोना इली अथवा हंड़िया का महत्व

भारत एक विशाल देश है। यहा 1971 ई. के जनगणना के अनुसार केन्द्र प्रशासित राज्यों को मिलाकर 565 प्रकार की जनजातियाँ निवास करती हैं। केवल बिहार में 30 प्रकार की जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनकी आबादी 1991 के जनगणना के अनुसार 66,16,914 है। जनजातियाँ प्राय: सहयोगी, ईमानदार, दिलदार, स्पष्टवादी, निर्भीक, सच बोलने वाले एवं कर्मठ होते हैं। ये युगों से प्रकृति के निकट रहते आये हैं एवं हमेशा आगे बढ़ने के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष किया है। इनके समाज में एक दोना इली अथवा हंड़िया (Rice beer) का महत्वपूर्ण स्थान है। परम्परागत रूप से बिहार की जनजातियाँ इली अथवा हंड़िया पूजा के प्रसाद के रूप में ग्रहण करती हैं। पूजा के प्रसाद के रूप में ग्रहण करने का मुख्य उद्देश्य सफलता प्राप्त करने की मनोकामना करना, आगे बढ़ना, स्वास्थ्य को संतुलित बनाए रखना एवं खुशियाँ मनाना है। चूंकि इली चावल को पकाकर विशेष प्रकार की जड़ी-बूटियों से तैयार की जाती है फलत: तरह-तरह की बीमारियों के निवारण के लिए भी दवाएँ इली रासे (हंड़िया का रस) के साथ मिलाकर दी जाती है। इली का सही उपयोग गर्मी में लू से बचने, बवासीर, जौंडीस इत्यादि रोगियों के लिए सहायक होता है।

यही कारण है कि मुण्डा आदिवासी समाज में एन पूना (धान मिसाई शुरू करने के नाम पर पूजा), बा (सरहूल), रोवा पूना (रोपनी शुरू करने के समय की पूजा), हाड़ाम-बुडी बोंगा (पूर्वजों की पूजा), नावा पूना (नए, अनाज खाद्य के रूप में ग्रहण करने के लिए पूजा), बुरू बोंगा (पहाड़ी देवता) की पूजा, सोसो बोंगा (खरीफ फसल को कीड़े-मकोड़ों से बचाने की पूजा) इत्यादि के सुअवसर पर हंड़िया की पूजा की जाती है। इसी तरह से बिहार के संथाल, हो, खड़िया, उरांव, बिरहोर, लोहरा एवं अन्य जनजातियाँ भी विभिन्न अवसरों पर हंड़िया की पूजा करते हैं।

अत: हंड़िया आदिवासियों के लिए पवित्र वस्तु है। यह जन्म, विवाह एवं मृत्यु से संबंधित विभिन्न संस्कारों के सुअवसर पर भी उपयोग में लाई जाती है। इस तरह से आदिवासी समाज में हंड़िया का सराहनीय स्थान है। हंड़िया आदिवासियों के लिए आर्थिक, समाज-शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। हंड़िया

कम खर्चीली है। परम्परागत रूप से समयानुसार हंड़िया के सही उपयोग से जनजातियों को आर्थिक स्थिति मजबूत करने में मदद मिलेगी। चूंकि एक दोना हंड़िया के निमंत्रण पर ही गाँव के सभी लोग एकजूट होकर एक दूसरे को सहयोग करते हैं, फलत: जोताई, बोवाई, रोपनी, निकौनी का काम एवं अन्य कठिन से कठिन काम भी जल्द समाप्त हो जाता है। एक दोना हंड़िया के निमंत्रण पर सामुहिकता की भावना से प्रेरित होकर जनजातियाँ तालाब खोदने, नदी बांधने एवं छोटे-बड़े गृहस्थ कार्यों को सरलता से हल कर देती हैं एवं खुशियाँ मनाती हैं, परन्तु आज अर्द्धशिक्षित, अधपके नौजवान एक दोना इली के पूर्वजों की सोच का अपमान कर रहे हैं। वे हाट-बाजारों में जमकर पी रहे हैं। तदैव व्यापारिक दृष्टिकोण से हाट-बाजारों में गैर आदिवासी/आदिवासी/व्यापारी महिला-पुरुष बेच रहे हैं, पैसा कमा रहे हैं। फलत: आदिवासी समाज/झारखण्डी समाज अपमानित हो रहा है। बूढ़े-बुजुर्ग, नवयुवकों के डर से चुप रहते हैं, जबकि पहले बुजुर्ग-बूढ़ों के कारण नौजवान हंड़िया का दुरूपयोग नहीं करते थे। आज हंड़िया के दुरूपयोग को रोकने की आवश्यकता है।

अत: सच्चे समाज सेवी, जागरूक जनजातियों, कर्त्तव्यपरायण सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम तथा अन्य योजनाओं के तहत आदिवासियों को मिद्/मद् पुड़ु अथवा एक दोना इली के महत्व की ओर आकर्षित करना है ताकि वे इली के गलत उपयोग से बर्बाद नहीं हों। देश के कुशल एवं चरित्रवान राजनीतिज्ञों को भी इली के महत्व को ध्यान में रखते हुए प्रोत्साहित करना है न कि इली के गलत उपयोग की ओर आकर्षित करके वोट लेना है।

अत: आज परम्परागत ढंग से चली आ रही हंड़िया की उपयोगिता को देखते हुए जनजातियों को पवित्र हंड़िया के महत्व एवं आवश्यकता पर ध्यान देना है। अनुसरण करना है एवं आगे बढ़ना है। यही मेरी कामना है।

8. आदिवासियों में सम्पत्ति एवं अधिकार

आदिवासी समुदाय के अन्तर्गत मुंडा, हो, संताल, उरांव, खड़िया इत्यादि जनजाति के लोग अपने भरण–पोषण के लिए पेशागत कार्य–कृषि, पशु–पालन, लाह की खेती करते हैं। इसके अतिरिक्त कृषि कार्य के लिए हल–जुंअट बनाने, रस्सी बनाने का कार्य करते हैं। मछली पकड़ने के लिए कुमनी, झींगरी, टोंडरा बनाते हैं एवं मेहनत–मजदूरी द्वारा परिवार का भरण–पोषण करते हैं। जबकि आदिवासी समाज के बिरहोर, महली, गोड़ाइत, लोहरा पेशागत ढंग से क्रमवार रस्सी बनाने, टोकरी बनाने, सूचनादाता का कार्य करने तथा ढोल–नगाड़ा बजाने, बनाने, लोहे का औजार बनाने का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त बिरहोर, महली, गोड़ाइत एवं लोहरा मेहनत–मजदूरी करते हैं, आंशिक रूप से वे खेती भी करते हैं।

आदिवासी परिवार द्वारा अर्जित राशि परिवार के भरण–पोषण, आवश्यकताओं की पूर्ति एवं विकास के लिए होता है, फिर भी आदिवासी परिवार द्वारा उपलब्ध सम्पत्ति को उत्तराधिकारी के दृष्टिकोण से निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है:–

पूर्वजों द्वारा प्राप्त अचल सम्पत्ति

इसके अन्तर्गत भूधन (भूमि धन), डोभा, तालाब, चट्टान, खेत, खलिहान, पेड़–पौधे, लत्तर इत्यादि आते हैं। पूर्वजों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति का बंटवारा भाइयों में बराबर–बराबर होता है, परन्तु रिवाज के अनुसार बड़े भाई को थोड़ा ज्यादा मिलता है। चूंकि परिवार का बड़ा बेटा होने के कारण कुटुम्ब बन्धुओं से पिता के समय से ही ज्यादा परिचय रहता है। फलत: माता–पिता की मृत्यु के बाद स्वभाविक ढंग से वे ज्यादा उत्तरदायी हो जाते हैं। अत: उनके आर्थिक बोझ को कम करने के दृष्टिकोण से इस तरह की परिपाटी परम्परा से चली आ रही है।

बहनों का पिता की अचल सम्पत्ति पर हक

बहनों की शादी नहीं होने पर कुंवारी बहनों को भी बहनों की इच्छा पर सम्पत्ति का बराबर बंटवारा होता है। परन्तु भाइयों के आर्थिक बोझ को देखते हुए वे स्वयं

भाइयों के बराबर न लेने के लिये भी सहमत हो जाती हैं। अन्ततः जमीन के बंटवारा के बाद उनके इच्छानुसार किसी एक भाई के साथ-साथ रहने लगती हैं यदि वे स्वतंत्र रहना चाहती हैं तो भाइयों को कोई आपत्ति नहीं होती है। वे अपने जीवन काल में उपरोक्त सम्पत्ति के द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं, उपभोग कर सकती हैं, मेहमानों, कुटुम्ब-बन्धुओं का आदर-सत्कार कर सकती हैं। उपलब्ध धन को पूंजीधन के रूप में उपभोग करते हुए विकास कर सकती हैं, जमीन खरीद सकती हैं। लेकिन पूर्वजों से प्राप्त पूंजीधन को बेच नहीं सकती हैं, विनष्ट नहीं कर सकती हैं। वंशजों के हक को सदा के लिये समाप्त नहीं कर सकती हैं। चूंकि जंगल-जमीन के साथ भाइयों-वंशजों का लगाव है, प्रेम है, भाई-बहन का खून का रिश्ता है जिसमें स्नेह है, सामूहिकता का भाव है। बहन की मृत्यु के बाद वंशावली के अनुसार भाइयों में बराबर सम्पत्ति का बंटवारा होता है।

पत्नी का अचल सम्पत्ति पर हक एवं अधिकार

आदिवासी समुदाय, पितृसत्तात्मक है। फलतः अचल सम्पत्ति का उपयोग, आवश्यकतानुसार पति-पत्नी की सहमति, सलाह-मशविरा एवं सहयोग से करते हैं, ताकि अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके, प्रगति की जा सके। यदि पति मानसिक रूप से कमजोर, पीड़ित एवं पागल हों तो पत्नी-परिवार, बच्चों के भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा के लिये पति के अचल सम्पत्ति का उपयोग, आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कर सकती हैं। भूमि को सीमित समय के लिये बन्धक दे सकती हैं, जरपेशगी के रूप में दे सकती हैं। भूमि को छोड़कर पेड़-पौधों, वृक्ष-जंगल, झाड़ी, लकड़ी, घास-पात, लतर को बेच सकती है, परन्तु भूमि को सदा के लिये बेच नहीं सकती हैं। चूंकि भूमि के साथ समुदाय, गोत्र, वंश के साथ लगाव है तथा भूमि में स्त्रोत सृजन की ताकत है, अंकुर है।

विधवा का पति के अचल सम्पत्ति पर हक

आदिवासियों में पति की मृत्यु के बाद यदि सन्तान न हो तो विधवा अपने पति के सम्पत्ति का उपभोग कर सकती हैं, उसके द्वारा अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं, विकास कर सकती हैं, कुटुम्ब-बन्धु, मेहमानों को आदर-सत्कार कर सकती हैं, लेकिन वह बेच नहीं सकती हैं। उपरोक्त वंश के सम्पत्ति को, पूंजीधन

को, विनष्ट नहीं कर सकती हैं। चूंकि उसमें भाई-बिरादरी, गोतिया, कुटुम्ब-बन्धु एवं जान-परिचितों का प्रेम, स्नेह, लगाव है, जिसमें स्वभाविक सामाजिक नियंत्रण का शक्ति छिपा हुआ है। अपने इच्छानुसार मां-बाप, कुटुम्ब-बन्धुओं के सहयोग से दूसरी शादी कर सकती हैं, परन्तु शादी के बाद पहले पति के सम्पत्ति पर कोई हक नहीं रह जाता है। विधवा होने पर कुछ महिलाएँ अपने माँ-बाप के घर पर भी रहती हैं।

पूर्वजों द्वारा प्राप्त चल सम्पत्ति

इसके अन्तर्गत सभी सजीव एवं निर्जीव भौतिक वस्तुएँ गाय, बैल, सुअर, मुर्गी, धान, दलहन, तेलहन, चटाई, खटिया, पटिया, मचिया, ढोल-नगाड़ा, कुमनी, झींगर, टोकरी तथा अभौतिक संस्कृति-सम्पत्ति गीत, संगीत, पूजा, मंत्र, जादू-टोना इत्यादि आते हैं। उनका परम्परागत पेशा – कृषि, पशुपालन, लाह की खेती करने का हुनर है, संदेशवाहक का काम करना है, जाति नायक, गाँव-मौजा, इलाका प्रमुख को सहयोग करना भी है। मुंडा, मानकी, मांझी, महतो, पड़हा राजा के पद एवं कार्य के लिए आदिवासी महिलाओं को बराबरी का अधिकार प्राप्त है परन्तु गोड़ाइत आदिवासी समुदाय में संदेश वाहक के कार्य को छोड़कर, संदेशवाहक से संबंधित धन के अतिरिक्त अन्य सभी सम्पत्ति में गोड़ाइत पत्नी को बराबर का हक है, अधिकार है। आदिवासी परिवार, समाज, समुदाय स्वभावतः सरल है, सहयोगिता पर आधारित है, छल-प्रपंच से परे है, फलतः पति-पत्नी के बीच में सम्पत्ति के हक एवं अधिकार को लेकर मनमुटाव नहीं होता है, झगड़ा नहीं होता है। बल्कि आपस में वे आवश्कतानुसार एक दूसरे की सहमति लेकर उन सम्पत्तियों के द्वारा अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।

भाई-बहन का पिता की सजीव एवं निर्जीव भौतिक चल सम्पत्ति पर हक

माता-पिता की मृत्यु के बाद पिता की सजीव एवं निर्जीव भौतिक सम्पत्ति को भाइयों में बराबर-बराबर बांट दिया जाता है। सम्पत्ति बहुत ज्यादा रहने पर बड़े भाई को औपचारिकता के तौर पर थोड़ा अधिक हिस्सा बंटवारा में प्राप्त होता है। यदि बहन कुंआरी हो, शादी-ब्याह की काई उम्मीद न हो तो बहनों को भी सम्पत्ति का बराबर हिस्सा बंटवारे में प्राप्त होता है। वे इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले सम्पत्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बन्धक दे सकती हैं, बेच सकती हैं।

भाई-बहन एवं वंशजों का पिता की अभौतिक चल संस्कृति-सम्पत्ति पर हक

गीत, संगीत, जादू टोना, कला, हुनर पिता के वंशजों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है ग्राम, समाज, कुटुम्ब द्वारा प्राप्त पद का हस्तान्तरण साधारणतः पिता के बड़े एवं योग्य पुत्र को प्राप्त होता है। ग्राम, समाज, कुटुम्ब द्वारा प्राप्त पद का हस्तान्तरण पूर्णतः ग्राम, समाज, समुदाय पर निर्भर करता है। परन्तु गोड़ाइत आदिवासी में परम्परागत पेशा/संदेशवाहक का काम करना, जातिनायक, गाँव, मौजा, इलाका प्रमुख को सहयोग करने का काम साधारणतः बड़े भाई को सौंपा जाता है। परन्तु बड़े भाई में योग्यता के अभाव में अन्य योग्य भाइयों को इस काम के लिये ग्रामीणों की ओर से गाँव-मौजा, इलाका प्रमुख की ओर से चुना जाता है।

आदिवासियों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना

व्यक्तिगत सम्पत्ति उसे कहा जाता है जिसके प्रति व्यक्ति का विशेष लगाव है, झुकाव है तथा मात्र स्वयं का समझता है। हालांकि सहमति से दूसरे भी उपयोग कर सकते हैं। आदिवासियों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना निम्न प्रकार है :-

जीविकोपार्जन के रूप में उपयोग में लाई जाने वाली प्रिय वस्तु

वे आदिवासी परिवार के भरण पोषण के लिये विभिन्न-दावली, कटारी, चाकू, सूई, बसूली, ढोल, नगाड़ा, सहनई, लाठी, टांगी, तीर-धनुष, इत्यादि का उपयोग करते हैं। इनमें से कुछ वस्तुओं से परिवार के कुछ सदस्यों को विशेष प्रेम एवं लगाव हो जाता है जो उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानी जाती है, समझी जाती है।

वस्त्र, साज, श्रृंगार के रूप में उपयोग में लाई जाने वाली वस्तंएँ

परिवार के विभिन्न सदस्यों के उपयोग के लिये कमीज, धोती, साड़ी, ब्लाउज, पैंट, गमछा, गंजी, चूड़ी, खाड़ू, बाजू, लुलुक, मकड़ी, बाला, (आभूषण) करधनी इत्यादि खरीदे जाते हैं। जो उनके व्यक्तिगत सम्पत्ति होते हैं।

मजदूरी द्वारा प्राप्त राशि

परिवार एवं अपने भरण-पोषण के लिये परिवार के विभिन्न सदस्य मेहनत-मजदूरी

करते हैं, जो उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, परन्तु परिवार के लिये खर्च होता है। जिसमें सामूहिकता का भाव है। परिवार की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ रहने पर भाई-बहन व्यक्तिगत कार्य के लिये अपने द्वारा अर्जित सम्पत्ति को खर्च करने एवं पूंजी के रूप में उपयोग करने की मंशा भी रखते हैं। अपवाद स्वरूप गरीब परिवार के भाई-बहन भी आगे बढ़ने का ख्याल करते हुए व्यक्तिगत रूप से अर्जित की गई सम्पत्ति को व्यक्गित कार्य के लिये खर्च करते हैं।

पारितोषिक के रूप में प्राप्त धन

आदिवासियों में पारितोषिक के रूप में प्राप्त धन उनकी व्यक्गित सम्पत्ति होती है। पारितोषिक के रूप में प्राप्त तीर-धनुष, डंटा, सहनाई, बांसुरी, ढोल-नगाड़ा, ढांक, जाल, बकरी, मुर्गी, गाय, सूअर, भैंस के प्रति उनका विशेष लगाव होता है। परन्तु परिवार, कुटुम्ब-बन्धु के अन्य सदस्य भी उस सम्पत्ति का उपयोग आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सहमति प्राप्त कर करते हैं।

सहायतार्थ प्राप्त धन

निकट सम्बन्धी दादा-दादी, नाना-नानी, मामा-मामी, चाचा-चाची, जीजा-दीदी, मौसा-मौसी, फुफा-फुफु तथा अन्य द्वारा प्राप्त सहायतार्थ धन उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है। सहायतार्थ धन के रूप में उन्हें बकरी, मुर्गी, भेड़, धान एवं नगद राशि भी प्राप्त होती है। यह धन मूलतः उन्हें पूंजी के रूप में दी जाती है।

9. सिकुड़ते आदिवासी

हमारा भारत विशाल है। यहाँ की कुल आबादी 1971 एवं 1981 की जनगणना के अनुसार 54,79,49,809 एवं 68,38,10,051 है। आज यहाँ की जनसंख्या लगभग एक अरब तीन लाख है। जिसमें राय वर्मन (1971) के अनुसार केन्द्र प्रशासित राज्यों को छोड़कर 427 प्रकार की जनजातियाँ हैं तथा उनकी आबादी 3,80,15,162 (1971 की जनगणना के मुताबिक) है। जो पूरे जनसंख्या का 6.94% है। यहाँ कई जनजातियों की आबादी लाख से ऊपर है। 1978 में प्रकाशित ए.बी. शरण द्वारा लिखी गई पुस्तक ट्राइबल स्टडीज के अनुसार निम्नांकित जनजातियों की जनसंख्या निम्न प्रकार है – भील, गौंड (40 लाख से ज्यादा), संताल (30-40 लाख के बीच), मुण्डा, उराँव, मीना (10-30 लाख के बीच), भूमिज, गारो, खासी, खड़िया, किसान इत्यादि का 1 लाख से 5 लाख के बीच है। जबकि कई जनजातियों की आबादी मात्र हजारों में है और वे हैं – बिहार के "बिरहोर" अण्डमान निकोबार द्वीप समूह के औंगे तथा उनकी आबादी दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। उनका अस्तित्व समाप्त होते जा रहा है।

हमारे देश में बिहार भी जनजातीय बाहुल्य राज्य है। जहाँ 1971 एवं 1981 ई. की गजगणना के अनुसार 31 एवं 30 प्रकार की जनजातियाँ निवास करती हैं जिनकी आबादी 49,32,767 तथा 58,10,867 है जो पूरे भारत के जनजातीय आबादी का 9.05% (1951 की जनगणना के अनुसार) है यहाँ कई जनजातियों की आबादी लाख से ऊपर है जैसे : संताल, मुण्डा, उराँव, हो, खड़िया इत्यादि। जबकि कई जनजातियों की आबादी हजारों में या, हजार से भी कम (गोड़ाइत, खौंड, बंजारा, बथुडी) है। उनमें बंजारा गोड़ाइत, खोंड (1961 एवं 1971 की जनगणना के अनुसार) जनसंख्या धीरे-धीरे घट रही है तथा उनका अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है। सन् 1991 ई. के जनगणना के अनुसार बिहार की जनजातीय (S.T.) आबादी 66,16,914 है जो बिहार के पूरे आबादी का 7.66% है।

जनजातियाँ, परम्परागत ढंग से सरल हैं, ईमानदार हैं, कर्मठ हैं, कर्त्तव्यपरायण हैं एवं उनमें मेल-मिलाप का भाव है, भाई-चारे की भावना है, सबको साथ ले कर चलने की आदत है, बांटकर खाने का प्रचलन है, दूसरों के दुःख को देखकर द्रवित होने का स्वभाव है, सहयोगिता के आधार पर काम करने एवं खाने पर विश्वास है

जो मानवता के लिए अत्यावश्यक तत्व हैं तथा ये लक्षण मानव-वैज्ञानिक एवं समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से काफी वैज्ञानिक हैं, पथ प्रदर्शक हैं।

परम्परागत ढंग से जनजातियों की अपनी स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था है, राजनैतिक संगठन है, धार्मिक आचार संहिता है, अलिखित शैक्षणिक संगठन है तथा स्वतंत्र आर्थिक संगठन का स्वरुप है जो साम्यवादी अर्थव्यवस्था से मिलता जुलता है। जिसका स्वरुप आज भी बिहार की मुण्डा, हो, संथाल, खड़िया, उराँव जनजातियों में है।

मुण्डा जनजातियाँ मुण्डा-मानकी, पड़हा पंचायत, पड़हा-राजा के द्वारा गाँव एवं मौजों का देख-भाल, नियंत्रण तथा छोटे-बड़े फौजदारी/दीवानी झगड़ों का निपटारा करती रही हैं, हो जनजातियाँ मुण्डा-मानकी, पीर पंचायत के द्वारा नियंत्रण एवं विकास की योजनाएँ लागू करती रहीं हैं जबकि उराँव जातियाँ, महतो, पड़हा राजा, पड़हा पंचायत, देवान, पनरे, कोतवार के द्वारा गाँव एवं पड़हा पर शासन करती रही हैं, संताल, मांझी-परनिक परम्परा द्वारा "लो बीर" नामक उच्च स्तरीय, अदालत से नियंत्रित एवं निदेशित होती रही हैं। तदैव खड़िया जनजातियाँ ग्रामीण-पंचायत, पड़हा पंचायत या कुटुम्ब सभा द्वारा प्रधान के निदेशन में प्रदर्शित होती रही हैं। उपरोक्त सामाजिक एवं प्रशासनिक इकाइयाँ सरल हैं, कम खर्चिली हैं, जनमत पर आधारित हैं, जनसहयोग पर आधारित हैं, जिन्हें पालन करना अत्यावश्यक है अन्यथा गाँव से बहिष्कृत, कुटुम्ब समाज से बहिष्कृत करने का कठोर दण्ड विधान है, जिसके बिना मनुष्य को जिन्दा रहना मुश्किल है। उनमें उपरोक्त प्रकार की व्यवस्थाएँ मानवता के दृष्टिकोण से उच्च स्तरीय एवं मनोवैज्ञानिक हैं।

आज समाज के परिवर्तन के साथ, आवागमन की सुविधाओं के साथ, भोग-विलासी कृत्रिम समाज के उद्भव के साथ भारत जैसे विकासशील देश के आदिवासियों में सिकुड़न देखा जाता है, सशंकित, कुंठित एवं उद्वेलित होता हुआ देखा जाता है। मानवता के गुणों से अस्तित्व बचाने में असमर्थ होता हुआ देखा जाता है, भाई-चारे की भावना के सैद्धान्तिक परिकल्पनाओं पर से विश्वास उठता हुआ देखा जाता है। चूँकि आदिवासियों का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, एवं शैक्षिणिक संगठनों का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है चूँकि देश का शैक्षणिक दृष्टिकोण सीमित एवं सकीर्ण रहा है। फलतः विकास के नए सैद्धान्तिक माहौल में, नए परिवेश में, भारत एवं बिहार की आदिवासियों को समायोजन करने में, आगे बढ़ने में कठिनाई हो रही है। संघर्ष करना पड़ रहा है, विस्तृत पारम्परिक आदतों को सीमित करना पड़ रहा है। चूँकि आज की मशीनरी युग में नए सिरे से विकास करना है, आगे बढ़ना है जिसके लिए समय की बचत, धन की बचत

पर विशेष ध्यान देना है। फलतः आदिवासियों को भी कथित देश की मुख्य धारा में परिसम्मिलित होने के लिए आदतों में सुधार लाते हुए अपनी सीमाओं को कम करते हुए समायोजन करना पड़ रहा है। विकासवादी चार्ल्स डारविन के अनुसार प्राणियों को वातावरण के परिवर्तन के साथ अपने में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है अन्यथा वे प्राणी समाप्त हो जाएँगे। प्रमुख समाजशास्त्री – हरबर्ट स्पेन्सर के शब्दों में जो व्यक्ति एवं समाज वातावरण के परिवर्तन के साथ समायोजन करने में असमर्थ होता है, वैसे व्यक्ति एवं समाज का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, नामोनिशान मिट जाता है।

निःसन्देह आज आदिवासियों में सिकुड़न है, संकोच है, कुंठा है, विक्षोभ है। इसे यों स्पष्ट किया जाता है –

सामाजिक संरचना

पारम्परिक ढंग से जनजातियों में ऊँच-नीच, जात-पात, धर्म-वाद, वर्गवाद, प्रजातिवाद का अभाव है तथा वे समानता पर विश्वास करते हैं, उनमें स्त्री-पुरुष के बीच समानता का भाव है। फलतः दोनों स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द ढंग से जंगलों, पहाड़-पर्वतों एवं नदी-नालों में काम करते हैं। जवान लड़कियाँ, अकेले जंगल के बीच गाय-बैलें चराती हैं, पर कोई छेड़-छाड़, बदतमीजी नहीं करता है।

वे स्वभाव से अपने अगल-बगल के नए आगन्तुकों के प्रति सहानुभूति रखते हैं, मदद करते हैं, परन्तु कई नए आगन्तुकों ने जनजातियों को प्रायः असभ्य, मूर्ख, अशिक्षित समझते हैं एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर धन कमाने की योजना, धन संचय की योजना बनाया है। फलतः हर काल में नए आगन्तुकों को "दिकू" जैसे शब्दों से संबोधित किया है। साधारण शब्दों मे "दिकू" वह है जो आदिवासी प्रजातियों से भिन्न है परन्तु विशेष अर्थ में "दिकू" वह है – जो झूठ बोलता है, दलाली करता है, चापलूसी करता है, मानवीय मूल्यों को नहीं समझता है तथा सीमा से ज्यादा स्वार्थी है।

अतः आदिवासी जातियों को नए वातावरण में समायोजन कर पाने में कठिनाई होती है। फलतः वे समय-समय पर शोषण के खिलाफ विद्रोह करती रही हैं, आन्दोलन करती रही हैं कि झारखण्ड तथा अन्य क्षेत्रों में भूमिज आन्दोलन (1798-99), कोल आन्दोलन (1832-33), भूमिज आन्दोलन (1834), सिदू-कानू आन्दोलन (1855), सरदार आन्दोलन (1875-95), बिरसा आन्दोलन (1895-1900), झारखंड आन्दोलन (1930 से अब तक), बोड़ो आन्दोलन (आसाम) होते रहा है।

अतः आज के परिवेश में आदिवासियों का बौना एवं उग्र स्वरुप हम देखते हैं, संकुचित एवं विक्षोभ होते हुए देखते हैं। निःसन्देह यह आदिवासियों का सिकुड़न है।

स्वास्थ्य

जनजातियाँ प्रायः जादू-टोना एवं भूत-पिशाचों पर विश्वास करती हैं। वे बीमारियों का निवारण पारम्परिक ढंग से चलती आ रही वैद्यों एवं ओझा के द्वारा जड़ी-बूटियों का प्रयोग करती रही हैं, परन्तु आज वातावरण के परिवर्तन के साथ, उद्योग-धन्धों एवं कल-कारखानों के विकास के साथ, जंगलों के कटने के साथ धीरे-धीरे बीमारी भी मिश्रित होते जा रहे हैं। फलतः पुरानी जड़ी-बूटियाँ तथा वैद्य कारगर साबित नहीं हो रहे हैं। अतः उपलब्ध जड़ी-बूटियों के विश्लेषण एवं अनुसंधान की आवश्यकता है। चूँकि वे डाक्टर के द्वारा चिकित्सा नहीं कराते हैं। फलतः उनमें मृत्यु दर अधिक होता है। यही कारण है कि अण्डमान निकोबर की "ओंगे" जैसी जातियाँ समाप्त होते जा रही है।

आर्थिक संरचना

आदिवासियों में सामूहिक ढंग से स्रोतों का उपभोग करने का रिवाज है, निपूण एवं योग्य लोगों को बंटवारे में अधिक हिस्सा देकर पुरस्कृत करने का भी प्रचलन है। जो पूर्णतः वैज्ञानिक है। उसका नमूना आज बिहार की मुण्डा, हो, संथाल आदिवासियों में देखा जाता है। वे शिकार को मारने वाले युवक को एक रान (जांघ) अधिक देकर पुरस्कृत करते रहे हैं। उसी तरह उनके गाँवों के लिए कैडस्ट्रल सर्वे, रिवीजनल सर्वे के खतियान-खेंवट में परम्परा पर आधारित नियमानुसार फल-फूल कुल मौजा, लकड़ी जमीन मालिक की अवधारणा लिखित रूप में है। फलतः आज भी गाँवों में किसी भी व्यक्ति के जमीन का महुआ, कुसुम कंडिवर इत्यादि के पेड़ से गाँव के अन्य व्यक्ति भी फल-फूल प्राप्त करते हैं, खाते हैं जो मानवता पर आधारित है। उपरोक्त फलदार एवं लाहदार पेड़ से जमीन मालिक उपभोग नहीं करता है फिर भी वह संतुष्ट रहता है। परन्तु पेड़ जमीन मालिक का ही है। उपरोक्त अवधारणा पर ही मुण्डारी खूंटकटी एक्ट आधारित है। जो सामुहिकता एवं समुदाय पर आधारित है।

गाँव के सभी व्यक्ति द्वारा मिलजुल कर नदी बांधने एवं तालाब बनाने का रिवाज होता है इससे जितनी मछलियाँ उत्पादित होती हैं श्रम एवं श्रम दान के आधार पर पर्व-त्योहारों में मछलियाँ बांटी जाती हैं। गाँव का कोई सदस्य यदि तालाब बांधने एवं पकड़ने के समय कारण वश उपस्थित नहीं होता है, तो भी खाने के लिए वैसे

व्यक्तियों को बंटवारे में हिस्सा प्राप्त होता है।

धार्मिक आचार एवं विश्वास

जनजातियाँ स्वभावतः प्रकृति प्रेमी हैं, प्रकृति की पूजा करते हैं, पेड़-पौधों, पहाड़-पर्वतों, नदी-नालों-गड्ढों की पूजा करते हैं। जिनमें सरलता का भाव झलकता है, आडम्बर रहित होता है, धर्म में लचीलापन की झलक देखने को मिलती है। पूजा के अवसर पर जात-पांत, ऊँच-नीच का विभेद नहीं होता है। जिसका स्वरुप बिहार की मुण्डा, संथाल, हो, खड़िया, उराँव, बिरहोर जनजातियों में है। वे सरना, उतुर, जाहेर की पूजा करते हैं जहाँ पौधों का झुरमुट एंव जंगल होता है।

अतः आदिवासियों का धर्म वैज्ञानिक रहा है चूँकि देश के विकास के लिए वातावरण को स्वच्छ एवं स्वस्थ बनाने के लिए जंगल लगाना अत्यावश्यक है तथा मनुष्य को जीवित रहने के लिए आक्सीजन की आवश्यकता होती है जो हमें पेड़ पौधों द्वारा प्राप्त होता है। इतना ही नहीं बल्कि पेड़-पौधों के कारण वर्षा होती है एवं जलवायु ठण्डी होती है। फलतः पृथ्वी का संतुलन बना हुआ है।

आज जाने-अनजाने में, दूसरों के बहकावे में आकर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से धीरे-धीरे धार्मिक स्थलों के जंगल भी कट रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं। फलतः जनजातियाँ धीरे-धीरे धर्म से वँचित हो रही हैं। उनमें परम्परा के अनुसार शिकार करने जाते हुए पौधों के बीजों को लगाने का आदत है जो धीरे-धीरे लुप्त हो रहा है। उनमें धर्म, आचरण से सीधी डालियों को न काटने का रीवाज है दतुवन के रूप में न उपयोग करने का प्रचलन है पर वे अब धीरे-धीरे भूल रही हैं चूँकि शैक्षणिक नीति द्वारा, सिलेबस द्वारा ऐसे परम्पराओं को बचाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता है। अतः उनका दायरा संकुचित हो रहा है। इतना ही नहीं बल्कि आदिवासी जातियाँ पारम्परिक ढंग से अन्ध विश्वासी होते हैं, वे भूत-प्रेत पिशाच, डाइन इत्यादि में विश्वास करती हैं, वे बीमारियों, प्राकृतिक घटनाओं के प्रकोप, अतिवृष्टि-अनावृष्टि को पिशाचों से जोड़ते हैं, फलतः घर-घर में, भाई-भाई में मारपीट होती है, कत्लेआम होता है जो उनकी ओछी प्रवृति का, संकीर्णता का परिचायक है।

अतः उन्हें वैज्ञानिक शिक्षा के द्वारा सच्चाई से अवगत कराने की जरुरत है ताकि आदिवासियों का सिकुड़न दूर हो, पिशाचों का डरभय दूर हो।

सांस्कृतिक आचरण

जनजातियाँ संगीत प्रेमी हैं, कला प्रेमी हैं, नृत्य प्रेमी हैं, अतः भारत की प्रायः सभी आदिवासियों में मौसम एवं पर्व-त्योहारों के अनुरूप अलग-अलग तरह के नृत्य संगीत एवं वाद्य यंत्र है जिससे वे आनन्दित होती हैं, सुखमय होती हैं। उदाहरण स्वरुप बिहार के छोटानागपुर-संथाल परगना के आदिवासियों के करम, सरहुल, बुरू, यात्रा इत्यादि से सम्बन्धित नाच-गान को लिया जा सकता है। ये गीत-संगीत, नाच-गान धीरे-धीरे सांस्कृतिक संपर्क के कारण विलुप्त हो रहे हैं। अतः आदिवासियों का जीवन अव्यवस्थित एंव कला विहीन होने का डर है। जो निकट भविष्य के लिए अशुभ संकेत है।

निःसंदेह आज आदिवासी जातियाँ धीरे-धीरे खोती जा रही हैं, गरीब होते जा रही हैं। परन्तु जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के कारण सांस्कृतिक जागरण की भावना पैदा हुई है।

नैतिक आचरण

जनजातियों के सामुहिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संगठनों में सदाचार का भाव झलकता है। उनमें सोच-समझ कर काम करने, निर्णय देने, निर्णय लेने, बहकावे में न आने, सच्चाई को जानने एवं आगे बढ़ने का प्रचलन पारम्परिक ढंग से है। परन्तु आज के कथित ढोंगी, अर्द्धशिक्षित आदिवासी राजनैतिक नेता भी आदिवासियों को घर-घर में, गाँव-गाँव में, जाने/अनजाने में, झगड़ा करवा रहे हैं, मारपीट करवा रहे हैं, गुटबाजी करवा रहे हैं। फलतः जनजातियों के नैतिक आचरण में, वर्तमान अर्द्धविकास एवं संकुचित राजनैतिक माहौल की चपेट में आकर ह्रास हो रहा है।

अतः उनका अस्तित्व खतरे में है। परन्तु आदिवासी स्वशासन/ग्राम स्वशासन की भावना से इसे बचाया जा सकता है।

अतः सिकुड़ते हुए आदिवासियों को सिकुड़न से बचाने के लिए पारम्परिक ढंग से चली आ रही व्यवस्थाओं के अच्छाइयों-बुराईयों से अवगत कराने की जरुरत है तथा नए माहौल में समायोजन के लिए प्रशिक्षित करना है ताकि वास्तविकता को जानें एवं आगे बढ़ें। इसके लिए सांस्कृतिक जागरण एवं सांस्कृतिक उलगुलान की आवश्यकता है। शैक्षणिक पद्धति द्वारा स्थानीय मानवीय मूल्यों एवं सांस्कृतिक विशेषताओं को बताने की आवश्यकता है। प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है।

10. छोटानागपुर के पठारी क्षेत्र के विकास में शिक्षा का महत्व

छोटानागपुर का पठार धन सम्पदा से परिपूर्ण है यहाँ जंगल, पहाड़-पर्वत, फलदार पेड़-पौधे, जड़ी-बूटी, फूल-पत्तियाँ, कन्द-मूल, साग-सब्जी, बाँस-करील, तरह-तरह की चिड़ियाँ, जंगली जानवर तथा जमीन जायदाद हैं। परन्तु शिक्षा की कमी के कारण हम उपरोक्त धन सम्पदा को पहचान नहीं पाते हैं, बचा नहीं पाते हैं और इन धन सम्पदाओं के माध्यम से आज विकास नहीं कर पा रहे हैं। इन धन सम्पदाओं के महत्व से अनभिज्ञ रहने के कारण हममें से कुछ लोग मधु इकट्ठा करने के क्रम में, कुरकुट इकट्ठा करने एवं महुआ चुनने के क्रम में आग जलाकर छोड़ देते हैं। फलतः पूरा जंगल आग की लपट से बर्बाद हो जाता है, छोटे-छोटे लाभदायक कीट-पतंग मर जाते हैं, बाँस-करील जल जाते हैं और हमारी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और हम गरीब हो जाते हैं।

वैसा तो नहीं। हमें पढ़ने-लिखने की आवश्यकता है, जागरुक होने की आवश्यकता है और हमारी सम्पत्ति को पहचानने की आवश्यकता है। चूँकि पेड़-पौधों, जंगल-पहाड़ों के कारण ही वर्षा होती है। वर्षा होने पर ही फसल उगा सकते हैं खेती कर सकते हैं। जंगल रहने पर ही तरह-तरह की चिड़ियाँ जंगलों में बास कर सकती हैं तथा चिड़ियों के कारण नए-नए बीजों का विकीरण होता है तथा नए-नए पेड़ पौधे उग आते हैं और वातावरण का सन्तुलन बना हुआ है। जंगलों में जड़ी-बूटियों के रहने के कारण ही हम पेचिस, खसरा, पेट दर्द, सिर दर्द, उल्टी इत्यादि बिमारियों से मुक्त हो जाते हैं। आज ऐसी धन सम्पदाओं से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। चूँकि आम, इमली, चार, भेलोवा, नीम-करंज, खुजरी इत्यादि चटनी, आचार, दवाई का तेल, तेल साबुन इत्यादि बनाने के काम में आता है।

छोटानागपुर के पठारी क्षेत्र के कई भाई-बहनों, माता-पिताओं का अपार पशु धन, फल-धन है एवं हमारे भाई-बन्धू उन्हें देखकर आनन्दित रहते हैं, खुश रहते हैं। अचानक बीमारी से ग्रसित होने पर हमारा पशु धन समाप्त हो जाता है। उसी तरह पेड़ पौधों से प्राप्त धन, लाह उत्पादन से प्राप्त धन का सदुपयोग नहीं कर पाते हैं। भाई-बहन अनायास घड़ी, टेपरिकार्ड, साइकिल, रेडियो खरीद कर पैसों का दुरुपयोग करते हैं।

वैसा तो नहीं है। हमें समय-समय पर पशुओं को बेचकर प्राप्त रुपयों को बैंक में रखने की आवश्यकता है, लाह बेचकर पैसों को बैंक में रखने की आवश्यकता है, जीवन बीमा करने की आवश्यकता है तभी हम आज के परिवेश में आगे बढ़ेंगे। इसके लिए तो हमें शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता है, पढ़ने-लिखने की आवश्यकता है। जागरुक होने की आवश्यकता है।

आज कुछ भाई-बन्धु पढ़े-लिखे हैं, नये ढंग से आगे बढ़ने का हुनर है। वे बैंक में पैसा रखते हैं, जीवन बीमा कराते हैं और आगे बढ़ रहे हैं। अतः हमें उनका अनुसरण करने की आवश्यकता है। जागरुक होने की आवश्यकता है।

छोटानागपरु पठारी क्षेत्र के विकास के लिए सरकार का पाँच वर्ष का विकास परियोजना रहा है। जो सन् 1993 से शुरू हुआ तथा 31 मार्च, 1998 तक चला। इस परियोजना के तहत लघु सिंचाई, कृषि, पथ निर्माण, पेयजल इत्यादि की सुविधा प्राप्त करने के लिए 389.52 करोड़ रुपया खर्च करने का प्रावधान रहा है।

परन्तु विकास के इस परियोजना को साकार करने के लिए पढ़े-लिखे भाई-बहनों, युवक युवतियों को आगे आने की आवश्यकता रही है। चूँकि गाँव के लोग ही जानते हैं कि कहाँ पर सिंचाई बांध बनाने पर लोगों को समुचित लाभ प्राप्त हो सकता है। हम गाँव के लोगों को ही यह जानकारी है कि रोड किधर से बनाने पर कम पैसे खर्च होंगे तथा गाँव का कोई भी व्यक्ति भूमिहीन नहीं होगा और आने जाने के लिए रास्ता किस गाँव में नहीं हैं इत्यादि को बता पायेंगे। पढ़ने-लिखने एवं जागरुक रहने पर ही हम एम.एल.ए., एम.पी. को विकास के लिए क्रियाशील बना सकते हैं। मध्यस्तता करने वाले मध्यम वर्गीय दलालों के चंगुल से जनप्रतिनिधि को मुक्त कर सकते हैं। बाबुओं, पदाधिकारियों को टोले-मुहल्ले एवं झारखंड के विकास के लिए सचेत कर सकते हैं। उनकी आँखें खोल सकते हैं। पूर्वजों के सोच के मुताबिक विकास की अवधारणाओं से परिचित करा सकते हैं।

आज के विकास के दौर में रोड की आवश्यकता महत्वपूर्ण है। चूँकि आवागमन की सुविधाओं के रहने पर ही हम नए ढंग से खेती करने में सक्षम होंगे, आपात काल में डाक्टरों से स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने में समर्थ होंगे।

गाँव के लोग ही जानते हैं कि कहाँ पर पेय जल के लिए कुएँ की खुदाई होने पर या चापाकल गाड़ने पर गाँव के लोग समुचित ढंग से लाभान्वित होंगे अतः पढ़े-लिखे युवक-युवतियों को राह दिखाने की आवश्यकता है। आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

अब तक हम देखते आ रहे हैं कि जहाँ-जहाँ शहर बनते जा रहे हैं, वहाँ से आदिवासियों का पलायन होते जा रहा है। चूँकि नए ढंग से जीविकोपार्जन के साध नों को जुटाने का हुनर नहीं है। जबकि जंगल-पर्वत के शिक्षित भाई-बन्धु शहर में बसते जा रहे हैं। ऐसा क्यों? चूँकि पढ़ने लिखने पर नई तकनीकों के द्वारा भरण-पोषण के साधनों को जुटाने में समर्थ होंगे।

निःसन्देह आज शिक्षित होने की आवश्यकता है।

पढ़ने-लिखने पर ही भाई बन्धु अच्छे कवि, लेखक बन सकते हैं और विचारों का आदान-प्रदान, दुर्गम पहाड़-पर्वतों के बीच निवास करने वालों के साथ हो सकता है और हम आगे बढ़ सकते हैं।

इस तरह से हम देखते हैं कि छोटानागपुर के पठारी क्षेत्र के विकास में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है।

11. झारखंड की मिट्टी एवं विकास

आदिवासियों एवं सदानों (आज से पूर्व आकर बसी गैर जनजातियाँ जो जनजातीय संस्कृति, मनः स्थिति, सामाजिक व्यवस्था से परिचित हैं एवं बहुत हद तक जनजातीय संस्कृति में परिसम्मिलित हो चुकी हैं) का यह भूखण्ड जंगलों, पहाड़-पर्वतों से घिरा हुआ है। यहाँ की आबादी लगभग 3 करोड़ 51 लाख है। यह प्रदेश कोयला, मैंगनीज, बाक्साइड इत्यादि खनिज पदार्थों से भरा हुआ है। यहाँ कई उद्योग धन्धे, कल-कारखाने भरे पड़े हैं। यहाँ की आदिवासी जातियाँ भोले-भाले, सीधे, सरल, ईमानदार एंव बाहरी दुनिया से अपरिचित हैं। गैर आदिवासी (सदान) जातियाँ, आदिवासियों की तुलना में चालाक हैं परन्तु गैर झारखण्डियों की तुलना में गंवार हैं, निरीह! भोले हैं। फलतः उनकी चालाकी का दायरा मात्र पेट भरने की समस्या का समाधान तक ही है। यही कारण है कि झारखण्डी आदिवासी-सदान, गैर झारखण्डी राजनीतिज्ञों के चंगुल में बुरी तरह फंसी हुई हैं। क्यों न वे झारखण्डी भाई कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, कम्युनिष्ट या जनता पार्टी या राष्ट्रीय जनता दल से जुड़े हों। वे उपरोक्त बड़े नेताओं के बन्धुआ मजदूर बन गये हैं। चूँकि उन्हें पार्टी से निकाल दिये जाने का डर है, एम.एल.ए. का टिकट, बंटवारे में न मिलने का डर है, मंत्री न बनाये जाने का डर है। अतः वे अस्तित्व को बनाये रखने में असमर्थ हैं। अपने क्षेत्र के विकास की उनकी इच्छाएँ डर से दब जाती हैं एवं अपने परिवार के विकास के दायरे में ही सीमित हो जाती हैं। प्रमुख समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेंसर का कहना है कि तब तक कोई भी समाज विकास नहीं कर सकता है, जब तक कि वह अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष नहीं करता है। यही कारण है कि टेल्को, टिस्को, बोकारो, एच.ई.सी., एच.एस.एल. एवं अन्यान्य स्थानों में नौकरी करने वाले झारखण्डी मात्र अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। हमारे झारखण्डी भाइयों को कई एक बहानों से विस्थापित किया जाता रहा है। फलतः हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक स्थिति दयनीय हो जाती है। हम तितर-बितर हो जाते हैं। उपरोक्त समस्याओं के समाधान हेतु हममें से मात्र कुछ लोगों को नौकरी दी जाती है उन्हीं कुछ लोगों को विस्थापित, आदिवासी, हरिजन, पिछड़ा वर्ग एवं स्थानीय व्यक्ति के रूप में गिना जाता है। उदाहरण स्वरूप झारखण्डी भूखण्ड के छोटानागपुर-संथाल

परगना को ले सकतें हैं। बिहार राज्य के सरकारी घोषणाओं के तहत तृतीय, चतुर्थ वर्ग के नौकरियों में 90 प्रतिशत स्थानीय लोगों को लेने का प्रावधान रहा है परन्तु हम मात्र 10 प्रतिशत हैं। हमारा यह 10 प्रतिशत मात्र आदिवासी एवं हरिजन के आरक्षण के नाम पर बचा हुआ है। अन्यथा यह भी समाप्त हो जाता? हम बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में डींग हांकने वाले सदस्यों की भी यही स्थिति है। राँची विश्वविद्यालय जैसे महत्वपूर्ण शिक्षा मन्दिर में हम झारखण्डी कर्णधार छात्र के रूप में पढ़ रहे हैं अध्यापक के रूप में पढ़ा रहे हैं एवं पदाधिकारी के रूप में शीर्षस्थ पर बैठने का मौका मिल गया है, मिल रहा है। फिर भी राँची विश्वविद्यालय जैसे शिक्षा मन्दिर का अस्तित्व समाप्त होने को है। यहाँ प्रतिदिन क्लास अनायास बन्द हो जाते थे, विश्वविद्यालय कार्यालय में ताले लग जाते हैं। जब यहाँ की यह स्थिति है तो जंगलों, पहाड़-पर्वतों पर बसने वाली जन-जातियों, गैर-जनजातियों के सबंध में हम सहज अनुभव लगा सकते हैं।

ग्रामीण इलाके के हमारे लोग राजनैतिक पार्टियों से परिचित नहीं हैं। फलतः पार्टी के नाम से घर-घर, गाँव-गाँव में मारपीट हो रही है, मर रहे हैं। उदाहरण स्वरुप बुण्डू, तमाड़, सोनाहातु इत्यादि को देख चुके हैं। युग के परिवर्तन के साथ हमारी पारम्परिक राजनैतिक व्यवस्था, प्रशासन व्यवस्था का स्वरुप ढीला पड़ रहा है। जिसके लिये हम स्वयं उत्तरदायी हैं। पीर व्यवस्था, पड़हा पंचायत, महतो, मुण्डा, मानकी व्यवस्था इत्यादि सभी ढीले पड़ गये हैं। फलतः हमारी न्यायायिक व्यवस्था खर्चीली हो गई है। हम थाने, कोट कचहरी के चंगुल में बुरी तरह फंस रहे हैं, शोषित हो रहे हैं। हालांकि हम छोटे-बड़े झगड़ों का निपटारा स्वंय घर में, गाँव में कर लेते थे। परन्तु बाहरी दुनिया से अपरिचित रहने के कारण झगड़ों का निपटारा सरकारी तंत्रों के माध्यम कराने लगे हैं। हम सरकारी तंत्र के लोगों को भगवान की दृष्टि से देखते हैं। अतः उन्हें खुशामद करते हैं, अर्जी-बिनती करते हैं, परन्तु वहाँ हमारा (दोनों पक्ष के लोगों का) बुरी तरह शोषण होता है। हमसे घूस लिया जाता है, झूठ बोलना सिखाया जाता है। फलतः छोटे-मोटे झगड़ों का स्वरुप बड़े-बड़े झगड़ों में परिणत होता है, परिवर्तित होता है। ये झगड़े सरल से जटिल हो जाते हैं। इतना ही नहीं? बल्कि हमारा भाई-बन्धुत्व का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, सहयोगिता की भावना समाप्त हो जाती है एवं हम एक दूसरे को दुश्मन की तरह देखते हैं। अतः हम झारखण्डियों को उपरोक्त के संबंध में चिन्तन मनन करने की जरुरत है, परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

इन कमियों को दूर करने का सुअवसर भूरिया कमिटी की अनुशंसा पर आदिवासी स्वशासन/स्वशासन की अवधारणा द्वारा हमें पुनः प्राप्त हुआ है। जिसकी सोच को प्रसारित एवं विकसित करने की आवश्यकता है, जो सराहनीय है, सर्वमान्य (समझने पर) है।

हमारी सामाजिक एंव सांस्कृतिक व्यवस्था सरल है। हम सभी स्त्री-पुरुष में समानता की भावना है। जात-पात, ऊँच-नीच, धर्म इत्यादि के नाम से हम परम्परागत ढंग से बराबर हैं। सभ्य हैं, पूर्व शिक्षित हैं, अनुशासित हैं परन्तु आज गैर झारखण्डी समाज एवं संस्कृति की असाम्यवाद परम्पराओं की नकल करने में ही अपने को बहादुर समझने लगे हैं। इस कार्य में अर्द्ध शिक्षित, अर्द्ध विकसित डिग्रीधारी आगे हैं। फलतः हमारे समाज एवं संस्कृति का अस्तित्व खतरे में है। अतः आज झारखण्डी भूखंड में आदिवासी समाज-संस्कृति में परिसम्मिलित लोगों में दहेज, बाल-विवाह जैसी कुरीतियों का बीजरोपण होते हुए देखते हैं, चिन्तनीय है। फिर भी राजनैतिक रूप में आज धीरे-धीरे सभी झारखण्डी अवधारणा से परिचित हो रहे हैं। झारखंड सर्वमान्य धारणा बन रही है, जिससे निःसन्देह झारखण्ड में रहने वाले लोग लाभान्वित होंगे। झारखण्ड की सोच देश के लिए शुभ संकेत है।

अतः सभी तरह की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक बुराइयों का निदान हम छात्रों, बुद्धिजीवियों, विद्वानों, समाज सेवियों, कृषिकों पर है। हम सभी को समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए झारखण्डी भूखण्ड के वर्तमान, भविष्य को उज्जवल करना है। हमारे भूतकाल के इतिहास को गौरवान्वित करना है।

12. विकास हेतु चंद सुझाव

1. झारखंड में सामुहिकता की भावना परम्परा से रही है। अतः सभी लोगों को दिसुम के पुनर्निर्माण के लिए अपने-अपने कार्य क्षेत्र के तहत सहयोग की आवश्यकता है।

2. झारखंड की परम्परा – सरलता, सहजता एवं पारदर्शिता पर आधारित है। अतः सरकार की कार्य संस्कृति में पारदर्शिता एवं सरलता की आवश्यकता है।

3. झारखंड की विरासत पर्यावरण एवं जीव संतुलन पर आधारित है। अतः विकास के सभी क्रिया कलापों में उसका ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

4. झारखंड की संस्कृति सत्यता, नैतिकता पर आधारित है। अतः विकास के लिए व्यवस्था के लोगों को सत्यता, नैतिकता के साथ कार्य करने की इच्छा शक्ति को विकसित करना है।

5. विकास के लिए शैक्षणिक पाठयक्रम में स्थानीय विशेषताओं को भी अन्तर्निहित करना अनिवार्य है।

6. उपलब्ध स्रोतों, संसाधनों के माध्यम से सभी क्षेत्रों में विकास करने की जरूरत है। इसी के अनुरूप पिछली गलतियों को सुधारते हुए विकास कार्य होना चाहिए।

7. झारखंड समाज एवं संस्कृति में कड़ुए सच को सहर्ष स्वीकार किया जाता रहा है तथा भूलों को सुधारा जाता है।

8. झारखण्डी समाज एवं संस्कृति लोभ-लालच पर आधारित नहीं है। अतः कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं विधायिका द्वारा दिसुम के विकास के लिए इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

9. झारखण्ड में नशाखोरी को बन्द करना अत्यावश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, कुमार सुरेश, 1979 – बिरसा मुंडा और उनका आन्दोलन।
2. प्रसाद, एन., 1961 – लैंड एण्ड पिपुल ऑफ ट्राइबल बिहार, बी. टी. आर. आई., राँची।
3. शरण, ए. बी., 1978 – *ट्राइबल स्टडीज, राँची।*
4. राय, एस. सी., 1912 – मुन्डाज एण्ड देयर कंट्री, एशिया पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, बाम्बे।
5. मुण्डा, आर., 1988 – सोशल चेंज : जून 1988 वोलुम 18 नं. 2
6. प्रसाद, एन., 1961 – भारतीय समाज में जनजातिगण, वि. ज. शो. सं., राँची।
7. होफमेन, जोन एवं इमेलेन अर्थर बेन, 1990 – इनसाइक्लोपेडिया मुण्डारिका 1 से 16 वोलुम।

लेखक



सत्यनारायण मुण्डा का जन्म, पालन-पोषण तथा प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा-दीक्षा जंगलों से घिरे आदिवासी गाँव में हुआ। उच्चतर माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उन्हें बुण्डू एवं राँची विश्वविद्यालय, राँची से प्राप्त हुआ। छात्र जीवन में स्नातक मानव विज्ञान ऑनर्स में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करने के पुरस्कार स्वरूप उन्हें राष्ट्रीय मेधावी छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। छात्र जीवन में उन्होंने राजनीतिज्ञों के भाषण एवं आश्वासन को गम्भीरता से सुना तथा सरलतम समाज के उत्साह, इच्छाओं, उम्मीदों को देखा एवं परखा।

वर्तमान में राँची कॉलेज, राँची में रीडर एवं मानव विज्ञान विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत हैं। 20 वर्षों से शिक्षण कार्य में जुड़े रहने के दौरान सन् 1989 ई० में जनजातियों के शोषण से सम्बन्धित विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। दो दर्जन से अधिक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार, कान्फ्रेंस, वर्कशॉप में इन्होंने भाग लिया। आई.सी.ए.ई.एस., यूनीसेफ, आई.यू.ए.ई.एस., यूनिवर्सिटी कॉलेज लन्दन के निमंत्रण पर मुण्डा ने मैक्सिको, काठमाण्डू, स्वीडेन एवं लन्दन में अपना लेख एवं मन्तव्य प्रस्तुत किया तथा इनके लेख राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय स्तर के रिसर्च पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

लेखक ने यू.जी.सी., नई दिल्ली से प्राप्त माइनर प्रोजेक्ट एवं सीडा से प्राप्त प्रोजेक्ट सफलतापूर्वक पूरे किए हैं। उनके निर्देशन में एक छात्रा पी.एच.डी. प्राप्त कर चुकी है।

मुद्रण : कैलाश पेपर कन्वर्शन (प्रा.) लिमिटेड, राँची। दूरभाष : 315251